

ATISHAY KALIT

A Referred International Bilingual Research Journal of
Humanities, Social Science & Fine-Arts

ROSE (January-June) Vol. 5, Pt. A Sr. 9 Year 2016

ISSN 2277-419X

RNI-RAJBIL01578/2011-TC

Chief Editor :

Dr. Rita Pratap (M.A. Ph.D.)

Co-Editor :

Dr. Shashi Goel (M.A., Ph.D., PDF)

Mailing Address :

Dr. Rita Pratap

ATISHAY KALIT

C-24, Hari Marg, Malviya Nagar, Jaipur-302017

Phone - 0141-2521549 Mobile : 9314631852

INDIA

Editor Writes

Dear Friends,
Hello,

With the publication of this issue, we are entering into the 5th year of our publication. This successful journey of 4 years is all due to your active and enthusiastic co-operation. I am thankful to all my writers for the same.

With Best Wishes

Dr. Rita Pratap

Atishay Kalit is a "PEER REVIEWED REFERRED JOURNAL"
The articles are published after being reviewed by
the experts/Board of Editors

"FOLK ART OF INDIA"
published by the Author Dr. Rita Pratap is available for sale at special price
(Rs. 1500+100 postage). The Book contains research articles with
Colour, B/W illustrations.

CONTENTS

1. Editor Writes	<i>Dr. Rita Pratap</i>	2
2. कला शिक्षा का महत्व एवं अन्य विषयों से सहसम्बन्ध	प्रो. किरन सरना कु० संध्या	5
3. सांची के बौद्ध स्तूप के मूर्तिशिल्प और स्थापत्य	अमिता कुमारी	13
4. फ्रॉयड की मनोविश्लेषणात्मक विचारधारा एवं कला	प्रो. किरन सरना सुरभि गुप्ता	18
5. उत्तर आधुनिक काल के नवीन कला आंदोलन	डॉ. कृष्णा महावर	25
6. काली कुमाऊँ की सामाजिक पृष्ठभूमि	प्रो. किरन सरना विनीत कुमार	32
7. मुकुल पँवार के मूर्तिशिल्प : एक नजर	प्रो. किरन सरना कु. नेहा बसेड़ा	38
8. प्राचीन ग्रन्थों एवं साहित्य में भित्ति चित्रांकन परम्परा	डॉ. राजेश कुमारी	46
9. विविध काव्यात्मक विषयों पर 'कलाश्री कान्तिचन्द्र भारद्वाज' का काव्यात्मक चित्रण	डॉ. अन्नपूर्णा शुक्ला शशिना पारीक	52
10. कलाविद् राम जैसवाल के चित्रों में काव्यात्मकता	डॉ. अन्नपूर्णा शुक्ला अनिता शर्मा	57
11. जयपुर शैली के स्थापत्य पर मुगल प्रभाव	डॉ. रमेशचन्द्र वर्मा चीनू कुमारी चौहान	63
12. कला में वैदिक अभिप्राय	प्रेरणा चौधरी	67
13. समसामयिक कला में गणेश अंकन – मूर्तिकला के संदर्भ में	डॉ. ज्योति शर्मा	72
14. शिक्षा का सार्वभौमिकरण : शिक्षा का मौलिक अधिकार	बनवारी लाल मीना	79
15. महिला सशक्तिकरण एवं संरक्षणात्मक प्रयास	डॉ. राहिल अहमद	89
16. समाज की आधारशिला अहिंसा	अनामिका यादव	101

17. मारवाड़ के भित्ति चित्रों में नाथ संप्रदाय : एक कलात्मक अभिव्यक्ति	डॉ. नम्रता स्वर्णकार	106
18. संगीत के अमीर उस्ताद अमीर मोहम्मद खां	डॉ. कमलेश शर्मा	114
19. क्षितिन्द्रनाथ मजूमदार : कला यात्रा	डॉ. अनिल शर्मा	119
20. अम्बाला जिले के श्री सुपार्श्वनाथ जैन श्वेताम्बर मन्दिर का कलात्मक अध्ययन	डॉ. भूपसिंह गुलिया अवनीत कौर	129
21. उत्तराध्ययन—सूत्र' की पाण्डुलिपियों में अंकित मानवाकृतियाँ	राजेन्द्र प्रसाद	135
22. सावण सुरंगो, भादवो जी.....	डॉ. सुरेश कड़वासरा	141
23. खजुराहो के मन्दिर : स्थापत्य एवं मूर्तिशिल्प की दृष्टि से	प्रो. किरन सरना कु० मीनाक्षी	144
23. Metamorphosis of Hofstede model for the emerging markets with superimposition of Pasteur's quadrant in context to design of medical device for emerging markets	<i>Vimal Kumar Puthiyadath</i>	152
24. Movement beyond Symbolic Forms : Communicating characteristics through Dance	<i>Sharha Mirza</i>	159
25. Government Museum Mt. Abu : Collection & Proposals	<i>Indrajeet Bhattacharya</i>	169
26. Rome : The Vatican City	<i>Dr. Rita Pratap</i>	176
27. Signs, Symbols and Interpretation	<i>Prof. Kiran Sarna Pradnya S. Bhatkar</i>	180
28. Election and Electoral Reforms for better Democratic India	<i>Shashi Goel</i>	192

कला शिक्षा का महत्व एवं अन्य विषयों से सहसम्बन्ध

Art education is an activity based subject, which does not require a textbook, and this makes the role of teacher all the more important. They have to be more alert, innovative, and creative than any other teacher.¹

कला² शिक्षा जीवन के प्रत्येक पहलू को पूर्णता प्रदान करने की एक प्रक्रिया है। कला जीवन को देखने का नवीन ढंग प्रदान करती है। कला का आधारभूत सिद्धान्त यह है कि सभी बालक अद्वितीय हैं और उनमें सृजनात्मक योग्यता होती है। वे अपनी गति, योग्यता और अनुभव के अनुसार सीखते और कार्य करते हैं। इस कारण एक जैसा बनना संभव नहीं है, न ही वांछनीय है।³

कला शिक्षण का यह आशय नहीं है कि छात्र को कलाकार बनाया जाये, वरन् यह शिक्षा तो उनके जीवन-निर्माण के लिए है, जिसका अर्थ है कि वे सौन्दर्य पारखी बनें तथा उनको जीवन में सौंदर्य का बोध हो। कला बालकों में मानवाकृत एवं प्रकृतिकृत सौन्दर्य की रचना के प्रति सजगता उत्पन्न करती है।⁴

इस प्रकार कलायेंकेवल अध्ययन का विषय नहीं हैं। उनकी व्यवहारिक शिक्षा जीवन में कला का सौन्दर्य समन्वित करती है। कलाओं की व्यापक शिक्षा से शिक्षा अधिक परिपूर्ण बनकर सर्वांगीण बन जाती है। कला शिक्षा का एक आवश्यक अंग है, शिक्षा में कला का रूप व स्थान तथा संस्कृति के साथ शिक्षा और कला का संबंध विचारणीय है। कला प्रधानतः सौन्दर्य की आराधना है। कला का सौन्दर्य प्रायः व्यक्तिगत माना जाता है।⁵ इस प्रकार कला शिक्षा एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा बालक स्वयं के अर्न्तमन में उत्पन्न भावों को अभिव्यक्त कर पाते हैं।

भाषा की कमी को कला ने ही पूरा किया। अस्तु, विचारों के आदान-प्रदान करने लिए जहाँ मनुष्य की भाषा का प्रभाव क्षेत्र सीमित है, वहाँ मनुष्य की कला का क्षेत्र विस्तृत और सार्वभौमिक है।⁶

1952-53 में रिपोर्ट ऑफ द एजुकेशन कमीशन ने भी कला शिक्षा के महत्व

को प्रकाशित किया, कला शिक्षा के क्षेत्र में भारत सरकार द्वारा सर्वप्रथम उल्लेखनीय प्रयास 1956 में ललित कला अकादमी द्वारा कला शिक्षा पर एक सेमीनार आयोजित करके किया गया। जिसमें बहुत से कला मर्मज्ञों, कलाकारों, विद्वानों ने कला शिक्षा से जुड़े विभिन्न पहलुओं पर अपने विचार प्रस्तुत किये। 1964-66 में कोठारी कमीशन की रिपोर्ट, 1975 में "The Curriculum for the Ten year School-A Framework", राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986⁸, 1988, 2000, 2005⁹ सभी राष्ट्रीय पाठ्यचर्याओं आदि सभीने समय-समय पर कला शिक्षा के महत्व को प्रकाशित किया। इस प्रकार भारत सरकार की शिक्षा नीतियों में कला शिक्षा का स्थान सदैव ही महत्वपूर्ण रहा है। इसी क्रम में राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005 की रूपरेखा अत्यंत महत्वपूर्ण दस्तावेज है, जिसमें कला शिक्षा के मुख्य उद्देश्यों में, कला क्रियाकलापों द्वारा बालक की रचनात्मकता, व्यैक्तिक अभिव्यक्ति को विकसित करना है।

इसमें हर स्तर पर विषय के रूप में कला को जगह दिए जाने की सिफारिश की गई है, जिसके अंतर्गत गायन, नृत्य, दृश्यकलाएँ और नाटक चारों पहलू शामिल हैं इस पाठ्यचर्या में कहा गया कि इनमें से किसी भी कला का अध्ययन हमारे युवा विद्यार्थियों के ज्ञान को नकेवल समृद्ध करेगा, बल्कि वह स्कूल के बाहर भी जीवन भर उनके काम आएगा। इस प्रकार इस पाठ्यचर्या की रूपरेखा के अंतर्गत विद्यार्थियों के सर्वांगीण विकास में कला शिक्षा को महत्वपूर्ण मानते हुए इस संदर्भ में अनेक सुझाव प्रस्तुत किये गये हैं।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि समय-समय पर आये बदलावों के बावजूद भी कला शिक्षा के महत्व को अनदेखा नहीं किया जा सकता। कला शिक्षा को सर्वांगीण व्यक्तित्व विकास के रूप में शिक्षा पाठ्यक्रम में सम्मिलित रूप से रखा गया है। कला शिक्षा के द्वारा पाठ्यक्रमों को रोचक बनाया जा सकता है व यह अन्य विषयों को भी आसानी से समझने में अपनी महत्वपूर्ण सहभागिता रखती है।

कला शिक्षा का अन्य विषयों से सहसंबंध-

आधुनिक मनोवैज्ञानिक विचारधारा के अनुसार ज्ञान की विविधता की अपेक्षा ज्ञान की एकता अधिक उपादेय है। यही कारण है कि आज ज्ञान विविध विषयों के माध्यम से देने की अपेक्षा सह-सम्बन्धित (Correlated) रूप में दिया जाना अधिक लाभदायक है।¹⁰ यह समन्वय विषय को बोधगम्य बनाने में सहायक होता है, जिससे की आसानी से प्रत्येक विद्यार्थी उसे समझ पाता है। विषय की स्पष्टता की दृष्टि से सहसंबंध नितांत आवश्यक है।¹¹

सहसंबंध स्थापित करते हुए ध्यान रखना चाहिए कि यह स्वाभाविक एवं सहज

हो।¹² कला का सह-संबंध जीवन के साथ होने से ज्ञान पूर्णतया व्यवहारिक बन जाता है। कला जैसा क्रियात्मक विषय जीवन के हर दृष्टिकोण को प्रभावित करता है और बालक को उसके सुनहरे भविष्य के लिए तैयार करता है।¹³ इस प्रकार यह देखा गया है कि कला प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से प्रत्येक विषय के साथ सहसम्बन्धित है।

कला और भाषा

भाषा का माध्यम साहित्य होता है, साहित्य का जन्म काव्य कला, संगीत कला, लेखन कला, चित्रकला सभी का मिश्रित प्रयास है। भाषा स्वयं कला है। भाषा में साहित्य के माध्यम से काव्य, नाटक, कहानी, निबंध आदि का रसास्वादन किया जाता है। भाषा में वर्णित किसी प्राकृतिक दृश्य को चित्रकला द्वारा सहयोगी रंगों से अभिव्यक्त किया जा सकता है।¹⁴

कला एक ऐसी सार्वभौमिक भाषा है जिसके माध्यम से बालक रंगों, आकारों की मदद से स्वयं को आसानी से व कुशलतापूर्वक अभिव्यक्त कर पाता है इस प्रकार यह कहना गलत नहीं होगा कि कला भाषा का ही एक रूप है।

कला और इतिहास

जब हम किसी समय की कलाकृति का निरीक्षण करते हैं, तब हम उस काल की संस्कृति व इतिहास का अध्ययन करते हैं। वर्तमान समय में ऐतिहासिक जानकारी के मुख्य स्रोत कला के खजाने ही हैं। किसी भी राष्ट्र की संस्कृति एवं सभ्यता की निधि कलाकृतियाँ ही होती हैं।

ताजमहल, लाल किला, जामा मस्जिद ये सब मुगलकालीन स्थापत्य कला के भव्य उदाहरण हैं जो हमारे सामने मुगलकालीन इतिहास को साक्षात् करते हैं।¹⁵

इतिहास हमारे संपूर्ण भूतकाल का वैज्ञानिक अध्ययन तथा लेखा-जोखा अर्थात् ज्ञात प्रमाण है। इतिहास विज्ञान और कला दोनों ही हैं। जब यह सत्यों की खोज करता है तब वह 'विज्ञान' है और जब यह उन सत्यों का प्रतिपादन तथा वर्णन करता है तब वह 'कला' है। इतिहासकला की सहायता के बिना रोचक ढंग से प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।¹⁶ अतः कला व इतिहास का समन्वय अत्यंत आवश्यक है।

कला और गणित

कला में निपुणता प्राप्त करने का तात्पर्य कला के तत्वों को भली प्रकार समझ लेना है। चित्रकला का प्रादुर्भाव रेखाचित्र से हुआ और विकास होते होते धरातल की रचना के निर्माण होने से यह आकार में परिवर्तित हुई। अतः रेखा, धरातल और आकार

आज भी कला के प्रमाणयुक्त तत्व हैं। रेखाएँ केसी हों, कितनी बड़ी हों, इसका ज्ञान गणित की परिधि में आता है। रेखागणित प्रावैधिक कला (Technical Drawing) का ही विकसित रूप है।

नृत्यकला व संगीतकला में लय, ताल व स्वर का आरोह आदि गणित के आधार पर नियत होता है। आलेखन कला में विभिन्न ज्यामितीय आकृतियाँ निर्मित होती हैं जिनका आधार गणित ही होता है। कला विशेषज्ञ यह मानते हैं कि 'पैटर्न-मेकिंग' के पीछे एक गणित होता है। संगीत का सप्तक तो गणित की इस बात को सिद्ध करने वाला एक सुंदर नमूना है ही।¹⁷ इस प्रकार कला और गणित में सहसंबंध स्थापित करना सरल व रुचिकर प्रतीत होता है।¹⁸

कला और विज्ञान

Artist and Inventer Leonardo Da Vinci advised us: "Study the Science of Art, Study the Art of Science. Realize that everything connects to everything else."¹⁹

विज्ञान की सभी शाखाओं में चित्र और आकृतियाँ बनाने का काम पड़ता है। जिसका अभ्यास चित्रकला जैसे विषय का अध्ययन करने से ही हो सकता है। दूसरी ओर, चित्रकला में विभिन्न रंगों से छाया तथा प्रकाश से दृश्य अंकित करने और मनोहारी डिजाइनों को बनाने की आवश्यकता पड़ती है। रसायन विज्ञान की सहायता से रंगों का पूर्ण ज्ञान होता है। भौतिकशास्त्र के द्वारा प्रकाश तथा छाया का सही ज्ञान होता है तथा दृष्टि सम्बन्धी कई बातों की जानकारी होती है।

संगीत शास्त्र के भी विभिन्न वाद्य-यंत्र विज्ञान के सिद्धान्तों पर ही निर्मित किए जाते हैं। भौतिक विज्ञान में पढ़े जाने वाले ध्वनि सम्बन्धी पाठ संगीत में ध्वनि नियन्त्रण और वाद्य-यंत्रों के उचित उपयोग में सहायता पहुँचाते हैं।²⁰ इस प्रकार पदार्थ की रचना अवस्था, आकृति, गुण, रंग व धर्म के आधार पर कला और विज्ञान दोनों का साथ-साथ अध्ययन होता है।

फूल, पत्तियों की बनावट जहाँ वनस्पति विज्ञान का विषय है, वहाँ यह कला का भी विषय है। कलाकार उन्हें समय, दिशा व रेखा को समन्वित कर इस दृष्टि से देखता है कि विविधता में एकता दिखे, परंतु वैज्ञानिक एकता में विविधता के दर्शन करता है। एक विश्लेषणकर्ता है, दूसरा संश्लेषणकर्ता। अतः विज्ञान और कला को पूरक मानकर सहसंबंधित करना चाहिए, जिससे बालक को समग्र ज्ञान प्राप्त हो सके।²¹

कला और भूगोल

भारत की प्राकृतिक दशा, भारत की जलवायु तथा भारत का मानवीय भूगोल आदि भारतीय चित्रकला के प्रमुख विषय रहे हैं। पर्वतमालाओं, बहते जल की अविरल धाराओं, सागर की लहरों, मूसलाधार वर्षा, मरुस्थल में ऊँट का उपयोग, हाथियों की लड़ाई जैसे विषय चित्रकला में अपनाये गये हैं। मुगलों ने अपनी मनोवैज्ञानिक भूख को तृप्त करने के लिए भवनों की सज्जा, आलेखनों व स्वतंत्र प्रकाशन की कलाओं में हरी पत्तियों व पुष्पों का इच्छानुसार प्रयोग किया है। राजस्थानी शैली में नायक व नायिका को चुस्त पायजामे पहने दिखाया गया है। यह वेशभूषा भौगोलिक वातावरण की देन है। कांगड़ा शैली में पहाड़ी धरातल को यथासम्भव हर चित्र में प्रदर्शित किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कला पर देश की भौगोलिक परिस्थितियों का अटूट प्रभाव पड़ा है।²²

भूगोलकेमानचित्र बनाने, मॉडल बनाने, चित्रों आदि को बनाने में कला का प्रयोग करते हैं।²³ अतः कला और भूगोल का सहसंबंध होना अधिक लाभकारी सिद्ध होता है।²⁴

कला और शिल्प

छोटी कक्षाओं में क्रियात्मक कार्य का माध्यम शिल्प ही है। कला और शिल्प इतने समन्वित और सहसम्बन्धित विषय हैं कि इन्हें एक दूसरे से अलग करना असम्भव है।²⁵ रुसों (Rosseau) ने भी शिक्षा में स्वक्रिया द्वारा सीखने (Learning by doing) की पद्धति पर बल दिया। इस आधार पर दी गई शिक्षा आधारपूर्ण, जिज्ञासापूर्ण रोचक तथा प्रभावपूर्ण होती है।²⁶

भारतीय हस्तशिल्प कौशल व वस्तुओं का इस्तेमाल रेखाचित्र और चित्र आदि के साथ-साथ बच्चों की रचना शक्ति व कल्पना शक्तिकेविकास में सहायक होता है। इससे बच्चों का अनुभव स्तर व उनकी दक्षता (रचनात्मकता) का विकास होता है।²⁷ इस प्रकार कहा जा सकता है कि कला व शिल्प एक दूसरे के पूरक हैं।

कला और समाजशास्त्र

समाजशास्त्र में कार्टून चित्रों का बड़ा प्रचलन है, ये कार्टूनचित्र किसी विचार अथवा स्थिति को बड़े ही सरल और विनोदपूर्ण ढंग से व्यक्त करते हैं। ये समाज के नित्य दिन की बातों से संबंधित रहते हैं। पत्र पत्रिकाओं में कार्टून अक्सर निकला करते हैं, ये समाज अध्ययन के शिक्षण में लाभप्रद उपादान सिद्ध होते हैं। इस प्रकार कला व समाजशास्त्र शिक्षण में सहसंबंध स्थापित करना आवश्यक है। समाजशास्त्र में मॉडल (Model) का भी महत्व है। मॉडल यथार्थ वस्तुओंके ऐसे स्पष्ट प्रतिरूप

होते हैं जिसमें वस्तुओं की लंबाई—चौड़ाई तथा मोटाई ये तीनों आकार आसानी से समझ में आ जाते हैं।

Model may be defined as recognizable three dimensional representation of real things.-Wittich and Schuller

इनके द्वारा हम ऐतिहासिक घटनाओं तथा आधुनिक घटनाओं को कक्षा में मूर्त कर सकते हैं। अतः समाज—अध्ययन में चित्रों का उपयोग अवश्य किया जाना चाहिए। समाज—अध्ययन में पोस्टर चित्र (Poster) का भी बहुत महत्व है। पोस्टर किसी एक विचार अथवा एक प्रसंग को स्पष्ट तथा प्रभावोत्पादक रूप में प्रस्तुत करते हैं। इनके द्वारा हम छात्रों की रुचियों तथा उनके चिंतन को उत्प्रेरित कर सकते हैं।²⁸

कला और गृह विज्ञान

गृह विज्ञान स्वतः ही कला का रूप है, यह गृह निर्माण की कला है। पाकशास्त्र, बुनाई, सिलाई व कढ़ाई आदि सभी क्रियात्मक रूप में शिल्प हैं। गृह विज्ञान में दस्तकारी (Handicraft Art form) का सब जगह समावेश है। कला व गृह विज्ञान दोनों का उद्देश्य हाथ की योग्यता द्वारा मस्तिष्क का विकास करना, ज्ञानेन्द्रियों को पुष्ट करना तथा छात्र में कलात्मक प्रवृत्ति को जाग्रत करना है। छात्रों को इनके द्वारा सौन्दर्यानुभूति होती है जो जीवन को सरल बनाती है। इस प्रकार कला व गृह विज्ञान में भी अंतर्सम्बन्ध है।²⁹

कला और मनोविज्ञान

प्राचीन पद्धति में अध्यापक रटने पर बल देते थे। उनका विचार था कि रटने से बुद्धि का विकास होता है, परंतु मनोवैज्ञानिक परीक्षणों ने रटने को अनुचित सिद्ध कर दिया है। आज अनेक मनोवैज्ञानिक शिक्षण पद्धतियों का विकास हो गया है जिनके द्वारा शिक्षण देने से बालक की अभिव्यक्तियों को माध्यम मिलता है तथा यह उसके बौद्धिक मानसिक विकास में सहायक होती हैं। डाल्टन योजना, प्रोजेक्ट पद्धति, किन्डरगार्टन एवं बेसिक शिक्षा ऐसी ही शिक्षण पद्धतियाँ हैं, जो कि बालक के सर्वांगीण विकास में सहायक सिद्ध होती हैं, और ये सभी कला से संबंधित हैं। इस प्रकार कला व मनोविज्ञान में सहसंबंध (Correlation) है जो कि बालक की शिक्षा के लिए अत्यावश्यक है।³⁰

कला और अर्थशास्त्र

कला मानव को जीवन के लिए तैयार करती है। कला व्यक्ति में उन सभी क्षमताओं का विकास करती है जिनके आधार पर वह अपनी जीविका चलाता है जीवन व्यतीत करता है। अर्थशास्त्र व्यक्ति के जीवन—निर्वाह के लिए साधन जुटाने

में पूर्ण सहयोग देता है। मानव की सभी आर्थिक क्रियाएँ अर्थशास्त्र का ही विषय होती हैं। कला का उपादेय रूप शिल्प है। शिल्प का मूलभूत आधार आर्थिक क्रियाएँ हैं। अतः शिल्प (उत्पादन) अर्थशास्त्र का मुख्य अंग है। यही कला का भी अंग है। कला (शिल्प) के माध्यम से अर्थशास्त्र और अर्थशास्त्र के माध्यम से कला (शिल्प) का अध्ययन भली प्रकार कराया जा सकता है। कला की उपयोगिता आर्थिक लाभ से भी है जो अर्थशास्त्र का प्रमुख विषय है। इसलिए कला और अर्थशास्त्र का सहसम्बन्ध उपयोगी है। कला काम करने की वह शैली है जिससे हमें सुख व आनन्द की प्राप्ति होती है।

कला और जीवन

सत्य ही जीवन का सुख है और सत्य की खोज ही कला है। कला ही है, जिससे हमें अपूर्व सुख मिलता है और सौन्दर्यानुभूति होती है। कला जीवन संगिनी है, चिर-सह धर्मिणी है। कला का जीवन से अतुलनीय संबंध है। जीवन जीने का नाम ही कला है। प्रकृति चित्रकार की प्रेयसी होती है, जिसकी गोद में वह हर दम छिपी रहती है, वह प्रकृति में जीवन का सुख और सत्य खोजता है।

जीवन को सुखमय बनाये रखना ही कला का ध्येय है। अतः जीवन के वे सभी कार्य जिनसे आत्मिक सुख की प्राप्ति होती है कला के क्षेत्र में आते हैं। बालक को शिक्षा द्वारा यही ज्ञान देना चाहिए कि वह ऐसे ही कलात्मक कार्य करें, जिनमें आत्मिक सुख व सौन्दर्यानुभूति होती है तभी कला का अर्थ सार्थक होगा व जीवन से कला का सहसंबंध स्थापित हो सकेगा।³¹

इस प्रकार यदि कहा जाये कि कला जीवन के प्रत्येक आयाम में छिपी है तो अनुचित नहीं होगा। Art is Life, Life is an Art.

पाद टिप्पणी

1. Position paper 1.7, National Focus Group on Arts, Music, Dance and Theatre, NCERT : Delhi, March, 2006, P.No.-4
2. टर्नर, जेने (एडिटर), द डिक्शनरी ऑफ आर्ट, मैकमिलन पब्लिशर, पृ.सं.-505
3. शर्मा, माता प्रसाद, कला शिक्षा शिक्षण, अपोलो प्रकाशन: जयपुर, 2008, पृ.सं.-73,74
4. शर्मा, डॉ. प्रभा, कला शिक्षा शिक्षण, श्रुति पब्लिकेशन: जयपुर, 2007, पृ.सं.-40
5. तिवारी, डॉ. रामानन्द, शिक्षा और संस्कृति, भारती पुस्तक मंदिर: भरतपुर, 1970, पृ.सं.-23,24
6. ऑक्सफोर्ड, एनसाइक्लोपीडिया ऑफ वर्ल्ड हिस्ट्री, कम्पाईल्ड बाई मार्केट बुक लि., ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस : न्यूयॉर्क, प्रथम संस्करण, 1988, पृ.सं.-322
7. भारत सरकार, राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986, नई दिल्ली
8. <http://www.ncert.nic.in>

9. श्रीवास्तव, ए. एल., भारतीय कला, किताब महल : इलाहाबाद, 1990, पृ.सं.-3
10. Position Paper, 1.7, Ibid-P.No. 1-3
11. शर्मा, माता प्रसाद, पूर्वोद्धृत, पृ.सं.-42, 43
12. आर्य, जयदेव, कला का अध्यापन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल प्रकाशन : आगरा, 1960, पृ.सं.-175
13. शर्मा, माता प्रसाद, पूर्वोद्धृत, पृ.सं.-42, 43
14. पूर्वोद्धृत, पृ.सं.-46
15. पूर्वोद्धृत, पृ.सं.-7, 47
16. सिंह, योगेश कुमार एवं अर्चनेश शर्मा, इतिहास शिक्षण, ए. पी. एच. पब्लिकेशन कं. : नई दिल्ली, 2009, पृ.सं.-2, 4, 13
17. प्रसाद, देवी, शिक्षाकावाहन : कला, नेशनल बुक ट्रस्ट: दिल्ली, 1999, पृ.सं.-55, 56
18. आर्य, जयदेव, पूर्वोद्धृत, पृ.सं.-180
19. <http://www.americanorchestras.org>
20. मंगल, डॉ., एस. के. साधारण विज्ञान शिक्षण, आर्य बुक डिपो, 1990, पृ.सं.-55-56
21. आर्य, जयदेव, पूर्वोद्धृत, पृ.सं.-181
22. पूर्वोद्धृत, पृष्ठ संख्या - 181-182
23. सिंह, हरनारायण, भूगोलशिक्षण, विनोदपुस्तकमंदिर : आगरा, 1968, पृ.सं.-140, 141
24. शर्मा, माता प्रसाद पूर्वोद्धृत, पृ.सं.-48

अमिता कुमारी
शोधार्थी (चित्रकला विभाग)
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. A
Sr. 9, 2016
ISSN : 2277-419X

सांची के बौद्ध स्तूप के मूर्तिशिल्प और स्थापत्य

प्राचीन कला के मन्दिरों, मूर्तियों, खण्डहरों, स्तूपों आदि के अध्ययन से भी प्राचीन भारत के इतिहास के निर्माण में बड़ी सहायता मिली है। प्राचीन स्मारकों का अध्ययन कर विभिन्न कालों की कलाओं का ज्ञान प्राप्त किया गया। इन प्राचीन स्मारकों के अध्ययन से ही हमें प्राचीन काल की धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक दशा का ज्ञान प्राप्त होता है। स्तूपों, मन्दिरों, मूर्तियों का अध्ययन कर तत्कालीन लोगों के विचारों तथा विश्वासों का पता लगता है।

मौर्यकाल में अशोक सम्राट ने अनेक (84000 हजार) स्तूपों का निर्माण करवाया। यह स्तूप परम्परा बन गई और वह शुंग-सासतवाहक काल में अधिक विकसित हुई। मौर्यवंश का अंत करके पुष्यमित्र ने लगभग 187 ई. पू. एक 'नवीन राजवंश-शुंग वंश' की सत्ता स्थापित की। मौर्ययुगीन दृढ़ केन्द्रीयभूत सत्ता की समाप्ति से कला, राजकीय नियंत्रण से मुक्त होकर जनसामान्य के योगदान से निर्मित हुई, जिसमें कथानकों का वर्णनात्मक रूपांकन था, साथ ही स्वतंत्र मूर्तियों भी बनीं। "रामनाथ मित्र" का कथन है कि, "मौर्य युग के बाद क्लासिककल युग का प्रारम्भ होता है।"

सांची का स्तूप मध्यप्रदेश के जिला रायसेन में स्थित है। यह विदिशा से 10 कि.मी. दक्षिण में और भोपाल से 45 कि.मी. उत्तर दिशा की ओर स्थित है। यहाँ कई बौद्ध स्मारक हैं जो तीसरी शताब्दी ई.पू. से 12वीं शताब्दी के बीच के काल के हैं। सांची में रायसेन जिले की एक नगर पंचायत है। यही एक महान स्तूप स्थित है। इस स्तूप को घेरे कई तोरण भी बने हैं। यह प्रेम शांति विश्वास और साहस का प्रतिक है। सांची का महान मुख्य स्तूप, मूलतः सम्राट अशोक ने तीसरी शती ई.पू. में बनवाया था। जिसमें भगवान बुद्ध के कुछ अवशेष रखे थे। सांची को मौर्यकाल में 'वेदिसगिरि' और 'चेतिय गिरि' शुंग काल में 'काकणाव' या 'काकनाय' कहा जाता था। 9वीं शती ई0 में सांची को बोट श्री पर्वत कहा जाता था। महावंश के उल्लेखानुसार अशोक जब उज्जयनी का राजा था। तब उसने विदिशा सेठ 'देव' की कन्या महादेवी के प्रभाव से स्तूप का निर्माण कराया।

सांची के स्तूप की खोज 1818 ई. में जनरल डायर ने की थी। सन् 1891 में कनिधम् एवं एफ सी मैशी ने उत्खनन करवाया था। 1912-1919 तक मार्शल ने यहाँ का उत्खनन कराया एवं स्तूपों को संरक्षण दिया। शुंगकालीन मूर्तिकला के प्रधान नमूने सांची के अशोक कालीन विशाल स्तूप के चारों ओर की प्रदक्षिणा पथ की दोहरी वेदिका और चारों दिशाओं के अलंकृत तोरण द्वार प्रदर्शित किये गये हैं।

स्तूप का शाब्दिक अर्थ है—किसी वस्तु का ढेर। स्तूप का विकास संभवतः मिट्टी के ऐसे चबूतरों से हुआ। जिनका मृतक की चिता के उपर रखने के लिए किया जाता था। गौतम बुद्ध के जीवन की प्रमुख घटनाओं, जन्म संबंधित, धर्मचक्र, प्रव्रतन तथा निर्माण से संबंधित स्थानों पर भी स्तूपों का निर्माण हुआ। स्तूप के चार भेद हैं।

I. शारीरिक

II. परिभोगिक

III. उदेशिका स्तूप

IV. पूजार्थक स्तूप

विदिशा से 6 मील की दूरी पर स्थित पर्वत जिस पर अनेक छोटे-छोटे विशाल स्तूप निर्मित हैं। इसी कारण महावंश में चेतिय (स्तूप का दूसरा नाथ) गिरि भी कहा गया है। चौथी के लुप्त लेख में काकनाड़ महाविहार के नाम से उल्लेख पाया जाता है।

इस स्थान पर स्तूप क्यों बनाया गया? इस स्थान का भगवान बुद्ध के जीवन से कोई संबंध न था। बौद्ध साहित्य से विदित होता है कि अशोक उज्जयिनी में (पश्चिमी मालवा की राजधानी) राज्यपाल का कार्य करता रहा। उसके बाद वह विदिशा गया वहाँ से सेष्ठी की पुत्री से विवाह कर लिया। संभवतः इसकारण इस स्थान का महत्व हो गया। अशोक के स्तम्भ पर लेख खुदा है और चार सिंह का शीर्ष (ब्वपजंस) है दूसरा कारण यह हो सकता है। भगवान के इच्छानुसार (स्तूप चार रास्तों के चौराहे पर) सांची स्थान के उपयुक्त समझा गया। पाटलिपुत्र से कोशंबी होकर तथा उज्जैन सांची (यानी विदिशा) होकर राजमार्ग भारतीय समुद्र के पश्चिमी बंदरगाह भरौच जाया करता था। मथुरा से भी उज्जैन के लिए विदिशा जाना पड़ता था। इसी तरह सांची का भू-भाग चौराहा था। सांची के इसी महत्व को ध्यान में रखकर अशोक ने स्तूप निर्मित किया होगा। सांची की खुदाई से मुख्य स्तूप से भस्मकलश की प्राप्ति न हो सकी है। यानी भस्म (धातु) से सांची का कोई संबंध न था।²

कनिधम् ने सांची और उसके आस-पस सोनारी, सतधरा, अंधेरा, और भोजपुर नामक स्थानों में कुल 60 के लगभग स्तूपों के होने की बात कही है। इनमें से

तीन प्रसिद्ध स्तूप है।

1. स्तूप संख्या 1—प्रधान स्तूप जिसमें बुद्ध की धातुएँ रखी गई है। और जिनका विनिर्माण मूल रूप से अशोक के काल का माना गया है।

2. स्तूप संख्या 2— में अशोक के समकालिक प्रमुख धर्म प्रचारकों की अस्तियों को भूगर्भस्थ किया गया ।

3. स्तूप संख्या 3—सारिका फूल और महाभोग्गलायन नामक बुद्ध के प्रिय शिष्यों के अवशेषों को भू-गर्भस्थ किया गया ।

“सांची के स्तूप को भारत के सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं पूर्ण विकसित स्तूपों में गिना जाता है। स्तूप का मूल स्वरूप ईंटों द्वारा अशोक के काल में निर्मित किया गया था। उस पर शिलाच्छादन का कार्य शुंगकाल में सम्पन्न हुआ अपने वर्तमान रूप में सांची का महास्तूप भरहुत के स्तूप का लगभग दुगुना है। स्तूप के दक्षिणी तोरण के सामने अशोक का एकात्मक स्तम्भ था। जिसमें संघभेद करने वाले भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए दण्ड विधान उत्कीर्ण है। स्तूप का व्यास 126 फुट तथ ऊँचाई 54 फुट है। यह स्तूप त्रिमेधि था इसमें भूमिगत, मध्यगत तथा शिखरगत यह तीन वेदिकाएँ थी। इसकी मध्य वेदिका 16 फुट ऊँची थी। यह एक प्रकार से स्तूप की उपरी परिक्रमा का मार्ग बनाती है, इसकी मध्य वेदिका 6 फुट है। वेदिका पर जाने के लिए दक्षिण की ओर सोपान बना है। प्रत्येक सोपान में 25 सीढ़ियाँ हैं। इनकी भूमिगत वेदिका कुल मिलाकर लगभग 11 फुट ऊँची है। वेदिका के स्तम्भ 9 फुट ऊँचे हैं। दो स्तम्भों के मध्य 2 फुट की दूरी है। वेदिका का निर्माण दो स्तम्भों के मध्य तीन तिरछे शिलाखण्डों तथा उष्णीष की सहायत से किया गया है। यह वेदिका निर्माण का सुविदित डिजाइन है प्रत्येक तोरण की ऊँचाई 34 फुट है। चारों तोरण एक जैसे हैं तथा प्रत्येक में दो शिर्ष युक्त स्तम्भ हैं, जिनके उपर तीन तिरछे प्रस्तर पादांग फसाये गये हैं। सम्पूर्ण स्तूप मूर्तिशिल्प एवं अलंकरण की दृष्टि से तोरणों को छोड़ लगभग सादा है। भरहुत की शांति अर्द्ध गोलाकार किंतु पूर्णतः शिलाच्छादित स्तूप में प्रयुक्त शिलाखण्डों की जुड़ाई में किसी गारे का प्रयोग नहीं किया गया है। शिलाखण्डों के उपर 4 ईंच मोटा लेप किया गया है।”³

स्तूप सरचना के वास्तु अंग है।

वेदिका—स्तूप की रक्षा के लिए

मेधि (कुर्सी)—जिस पर स्तूप का मुख्य भाग आधारित होता था

अण्ड—स्तूप का अर्द्ध गोलाकार भाग

छत्र अथवा छत्रावली—धार्मिक चिन्ह या प्रतीक

यष्टि—छत्र को सहारा देने के लिए

सांची के स्तूप का विकसित स्वरूप शुंग—सातवाहन काल में उभर कर आया। एक उत्कीर्ण लेखके अनुसार सातकर्णी द्वितीय के समय इसका निर्माण हुआ। गुप्त काल में स्तूप के समीप उनके छोटे—छोटे स्तूप निर्मित हुए। प्रतिहार, परमार आदि राजवंशों के शासन काल में अनेक गतिविधियों सम्पन्न हुईं।

स्तूप के वास्तु अंगों का विवरण निम्न प्रकार से है।

वेदिका—स्तूप के सबसे महत्वपूर्ण भागों में से एक है। इसके विविध भागों पर धर्म के प्रतिकों को उकेरा जाता था। कभी—कभी कुछ महत्वपूर्ण धर्म संबंधी शिलोख भी इस पर उत्कीर्ण किये जाते थे। वेदिका के चार भाग होते हैं⁴

अण्ड—स्तूप का प्रमुख अंग जो सूर्य के प्रतीक के रूप में बुद्ध का प्रतिनिधित्व करता है, अण्ड के नाम से जाना जाता है, मर्या काल में इसके निर्माण में ईंटों का प्रयोग किया गया था। जिस पर शुंगकला में ईंच मोटा प्लास्टर किया गया। यह अर्द्धवृत्ताकार या अर्द्धचन्द्रकार है।

हरमिका— स्तूप के शीर्ष भाग पर वर्गाकार हरमिका निर्मित है, जिसके निर्माण में स्तम्भ, सूची और उष्णीष का विधान है, भू—वेदिका, मेधि और हरमिका में तीन—तीन सूचियों आड़ी दिशा में लगाई गई है। स्तम्भों को सूची की चौड़ाई का छेद—काटकर सूचीयों में फसाया गया है। परंतु आलम्बन का विधान नहीं है।

यष्टि— स्तूप के शिर्ष पर निर्मित हरमिका के केन्द्र बिन्दु में पाषाण निर्मित यष्टि (दण्ड) आरोपित। जिसमें तीन छत्र नीचे से उपर की तरफ घटते कुभ में लगायें गये है, ये तीन छत्र क्रमशः बुद्ध, धर्म, संघ का प्रतिनिधित्व करते है। यष्टि बुद्ध की स्थिरता और उनके मत की अभरता का घोटक है।

छत्र— छत्र के माध्यम से यह कल्पना भी की गई कि बुद्ध या उनका ज्ञान आकाश की विशालता जैसे गुणों से निहित है।

तोरण द्वार—

तोरण द्वार के निर्माण में बडेरियों, सूचीयाँ आदि वस्तु अंगों का प्रयोग किया गया है। ये तोरण द्वारा पत्थर से निर्मित है।

सांची के तोरण द्वार क्रम से निर्मित हुए ये दक्षिण, उत्तर पूर्व तथा पश्चिम तोरण क्रमशः निर्मित हुए। तोरण द्वारा के कारण सांची उनके सिर पर जानवरों की आकृतियों खुदी है। उन पद प्रस्तर की एक शहतीर (जिसे बेरेडी कहा गया है) रखी

गई है। बेडरियों पर चौकोर शीर्ष बने है जिनसे दो बडेरियों का अंतर हो जाता है। यह तीन बडेरियों का तोरण है।⁵

बडेरियों पर बुद्ध जातक कथाओं तथा उनके जीवन दृश्यों एवं अलंकारिक अभिप्रायों को अंकित किया गया है। इन तोरण द्वारों में सबसे प्राचीन दक्षिण तोरण द्वारा (सातकर्णी—द्वितीय द्वारा निर्मित) है। दक्षिण तोरण द्वार पर एक दृश्य में 'श्री देवी' का अंकन है। इसमें बीच में खिले हुए फूल पर भी श्री देवी खड़ी है। उनके पैरों में कड़े है। कमर में मेखला है। शरीर का उपरी भाग निर्वस्त्र है। उनके गले में माला है और सिर पर पगड़ी है। उनके दोनों ओर कमलों पर हाथी खड़े है। उत्तरी तोरण पर उनका रूप गज लक्ष्मी के रूप में दिखाई देता है सर जान मार्शल ने सांची के प्रस्तर शिल्प में अंकित श्री देवी को बुद्ध जननी "माया देवी" माना है।⁶

सांची शिल्प में यक्षों को पुरुषों जैसा ही आंका गया है। उन्हें राजाओं के समान ही स्ताभूषण पहने अंकित किया गया है। यक्षणियों को भी सुन्दरता के साथ आम्रवृक्ष पकड़े खड़ा किया गया है। ये ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार बुद्ध जनम वाले दृश्य में माया देवी शाल वृक्ष की डाल पकड़े खड़ी है। मोटे पेट वाले बौनों का अंकन भी सांची के तोरण द्वारों पर मिलता है जो बेडरियों के बोझ को उठाये हुए है। पश्चिम दिशा के तोरण द्वारा के खम्भों में राजाओं द्वारा बुद्ध की अस्थियों के लिए युद्ध के दृश्य के उकेरा गया है। पूर्व दिशा के तोरण द्वार की अरी बरेड़ी पा 'सात बुद्धों' की तपश्चर्या' दृश्य को सांची के शिल्पियों ने उकेरा है।

यद्यपि बुद्ध के जन्म—जन्मान्तरों की जातक कथाओं का अंकन किया गया है। परंतु उसमें धार्मिकता कही नहीं दिखाई देती है। सर्वत्र लोक कला की छाप प्रतिबिम्बित होती है। संभवता: सांची के शिल्पी अपने उस समय के समाज को प्रतिबिम्बित करना चाहता था। स्त्री—पुरुषों के मुख पर आध्यात्मिकता की जगह सीधा सादापन सलकता है। इन दृश्यों का उद्देश्य धर्म की साधना नहीं, अपितु उस समय के जीते—जागते है समाज को प्रतिबिम्बित करना था।

संदर्भ ग्रन्थ

1. डॉ. रीता प्रताप, भारतीय चित्रकला, एवं मूर्तिकला का इतिहास, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पृ. सं. 458
2. डॉ. वासुदेव उपाध्याय, प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहाँ एवं मंदिर, विहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पृ. सं. 62
3. महेश चन्द्र जोशी, युग—युगीन भारतीय कला, राजस्थानी ग्रंथागार, पृ. सं. 115—116
4. रतन लाल मिश्र—स्मारकों का इतिहास, ईना श्री पब्लिशर्स, जयपुर पृ. सं. 68
5. डॉ. वासुदेव उपाध्याय, प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहाँ एवं मंदिर, विहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी,

फ्रॉयड की मनोविश्लेषणात्मक विचारधारा एवं कला

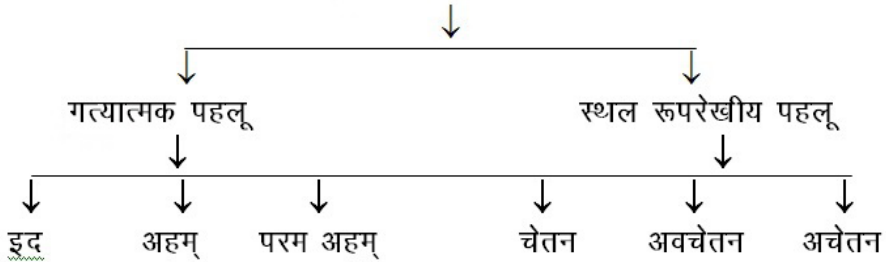
आज किसी भी व्यक्ति को सिग्मंड फ्रॉयड का परिचय देने की आवश्यकता नहीं है। उन्नीसवीं बीसवीं शताब्दियों में मानव चिंतन को सबसे अधिक प्रभावित करने वाली चार विभूतियाँ हैं : मार्क्स¹, डारविन², गांधी³ और फ्रॉयड। इनमें से फ्रॉयड ने मन और उसके अचेतन व्यापारों के जो रहस्य उद्घाटित किए और अपनी खोजों के आधार पर हजारों स्नायु⁴ रोगियों को स्वस्थ करके जो नई चिकित्सा⁵ शैली स्थापित की उसका चिकित्सा जगत् के साथ-साथ मानवीय अध्ययन की अन्य शाखाओं पर भी क्रांतिकारी प्रभाव पड़ा है।⁶

फ्रॉयड के अनुसार मन हमारे मस्तिष्क एवं शरीर की क्रियाओं का नाम है जिस प्रकार बिजली क्या है या गुरुत्वाकर्षण⁷ क्या है—आदि को हम देख नहीं सकते उसी प्रकार मन क्या है, हम नहीं देख सकते। फ्रॉयड के अनुसार मुख्यतः मन या व्यक्तित्व के दो पहलू हैं—

1. गत्यात्मक पहलू

2. स्थलरूपरेखीय पहलू

मन की संरचना⁸



मन का गत्यात्मक पहलू—फ्रॉयड ने मनोविश्लेषण (Psychoanalysis) सिद्धांत के अंतर्गत व्यक्तित्व⁹ के परस्पर विरोधी ध्रुवों की चर्चा की है। इन ध्रुवों में जीवन तथा मृत्यु की मूल प्रवृत्ति, सक्रियता एवं निष्क्रियता स्त्रीत्व एवं पुरुषत्व सुख एवं यथार्थता का सिद्धांत सुख—दुख एवं प्रेम—घृणा आदि प्रमुख हैं। प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व या

मन में ये परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं जिनके कारण संघर्ष की परिस्थितियाँ उपस्थित होती रहती हैं। इन संघर्षमय परिस्थितियों के साथ अनुकूल अभियोजन स्थापित करने में व्यक्ति की अंतरात्मा या उसका मन गत्यात्मक रूप से परिवर्तित होता रहता है।¹⁰

फ्रॉयड ने मन के गत्यात्मक पहलू के अंतर्गत मन के उन प्रतिनिधियों को माना है जिनके द्वारा मूल प्रवृत्तियों से उत्पन्न संघर्षों का समाधान होता है। एक सामान्य वयस्क व्यक्तित्व के इन तीनों प्रतिनिधियों के बीच सामंजस्ययुक्त संतुलन रहता है लेकिन, जब इनके बीच का संतुलन बिगड़ता है तब व्यक्तित्व असंतुलित हो जाता है ये तीनों प्रतिनिधि निम्नलिखित हैं।¹¹

(1) इद-फ्रॉयड के अनुसार 'इद' शारीरिक तथा मानसिक क्रियाओं के बीच विद्यमान रहती है। 'इद' पूर्ण रूप से अचेतन होता है। शिशु में इद शक्तियाँ ही विद्यमान होती हैं जो अचेतन मन द्वारा कार्य करती हैं। ये प्रमुखतः ऐन्द्रिक सुख की खोज में रहती हैं तथा दुःख को समाप्त करती हैं।¹²

(2) ईगो/अहम्-मन के गत्यात्मक पक्ष के दूसरे भाग को ईगो या अहम् कहते हैं। यह जन्म के समय बच्चे में उपस्थित नहीं रहता है, बल्कि बाद में विकसित होता है। वातावरण से उत्पन्न निराशा या कुण्ठा के कारण या उसकी अपनी इच्छाओं की संतुष्टि में इद से ही एक दूसरा गत्यात्मक भाग विकसित हो जाता है, जिसे ईगो कहा जाता है।¹³

(3) सुपर ईगो/परम अहम्-फ्रॉयड के अनुसार व्यक्तित्व संरचना का तीसरा महत्वपूर्ण भाग है सुपर ईगो। जो बाल्यकाल में ही विकसित हो जाता है। माता-पिता बाल्यकाल में अपने बच्चों को गलत व्यवहारों के लिए दण्डित तथा अच्छे व्यवहारों के लिए पुरस्कृत करते हैं। दण्ड एवं पुरस्कार के द्वारा माता-पिता अपने बच्चों को आचरण के नियम सिखलाते हैं, जिन्हें बच्चे आत्मसात करने की चेष्टा करते हैं। अतः अचेतन रूप से वे उनके नैतिक दृष्टिकोण को अपना लेते हैं। फलतः उनमें क्या करना चाहिए क्या नहीं करना चाहिए के आधार पर सुपर ईगो विकसित हो जाता है।¹⁴ फ्रॉयड ने व्यक्तित्व रचना की इन तीनों गत्यात्मक शक्तियों के बीच घनिष्ठ किन्तु परस्पर विरोधी संबंध बताया है।

मन का स्थल रूपरेखीय पहलू-फ्रॉयड ने अचेतन, अवचेतन व चेतन को मन का स्थल रूप रेखीय पहलू कहा है।

(1) चेतन-चेतना का संबंध वर्तमान से होता है। यह मन का वह स्तर होता

है जहाँ अतीत के अनुभव नाम, तिथियाँ, परिस्थितियाँ, घटनाएँ आदि स्मरण में रहते हैं। चेतन मन के कई उदाहरण हमारे दैनिक जीवन में मिलते हैं; जैसे परीक्षा भवन में विद्यार्थी प्रश्न का उत्तर लिखता रहता है क्योंकि उसे उत्तर सामग्री का ज्ञान होता है।¹⁵

(2) अवचेतन—अवचेतन से तात्पर्य वैसे मानसिक स्तर से होता है जो सचमुच में न तो पूर्णतः चेतन होता है और नहीं पूर्णतः अचेतन। इसमें वैसी इच्छाएँ विचार, भाव आदि होते हैं जो हमारे वर्तमान चेतन या अनुभव में नहीं होते हैं परन्तु प्रयास करने पर वे हमारे चेतन मन में आ जाते हैं।¹⁶

(3) अचेतन—फ्रॉयड ने अचेतन को मन का सबसे विशाल भाग बतलाया है। उनके अनुसार संपूर्ण मन का केवल अचेतन ही 7/8 भाग है, जबकि चेतन 1/8 भाग है।¹⁷

फ्रॉयड ने जो प्रयोग किए उससे उन्हें यह विश्वास हो गया कि जीवन में अचेतन का महत्व चेतन की अपेक्षा कहीं अधिक है। वे सिद्धांत और निश्चय जो चेतन की कृति समझे जाते हैं वस्तुतः अचेतन की किसी वृत्ति पर स्थित पाए जाते हैं। यदि व्यक्ति अपनी किसी इच्छा को कुछ मजबूरियों के कारण पूरा नहीं कर सकता तो उसके सामने दो ही मार्ग हैं—एक तो वह सजग रूप से उन कारणों के महत्व व शक्ति को समझकर उस इच्छा को मन से निकाल दे या फिर वह उस यथार्थ की चुनौती को स्वीकार किए बिना ही इच्छा को दबाने का प्रयत्न करे। ऐसी स्थिति में वह इच्छा बार-बार उठती है और बार-बार दबायी जाती है। नतीजा यह होता है कि वह इच्छा अचेतन में वास करने लगती है और अधिक शक्ति के साथ जीवन को शासित करने लगती है।¹⁸

फ्रॉयड ने माना कि दबी हुई भावनाओं को प्रबल निर्देश के द्वारा दबाना नहीं चाहिए। वरन् उनको किसी प्रकार खोजकर बाहर लाना आवश्यक है। यहाँ कला मनोविज्ञान से जुड़ जाती है क्योंकि फ्रॉयड ने अचेतन मन की भूमि पर कला कृति तथा उसकी रचना प्रक्रिया का विश्लेषण¹⁹ किया है।²⁰

फ्रॉयड के मनोविज्ञान की विचारधारा का संबंध कला की दृष्टि से सृजनात्मक प्रक्रिया के तरीकों से है। अर्थात् यह कलाकार की कृति की आलोचना न करके कलाकार व उसकी मानसिक अवस्था तथा प्रेरणा का विश्लेषण करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि यह विचारधारा कलाकार के व्यक्तित्व को उसके अनुभवों को उसके व्यवहार को या उसके जीवन की प्रमुख घटनाओं को जानने की चेष्टा करती है। एक तरह से देखा जाए तो यह विचारधारा कारण पर अपना ध्यान केन्द्रित

करती है।

फ्रॉयड की इस मनोविश्लेषणात्मक विचारधारा के अंतर्गत कलाकार की कृतियों के द्वारा उसके अंतर्जगत के रहस्यों को और कलाकार का अध्ययन करने पर उसकी मानसिक प्रक्रियाओं के द्वारा उसकी कृति में निहित मनोवैज्ञानिक गहराइयों को समझा जा सकता है।

यद्यपि फ्रॉयड ने कला के संदर्भ में कभी भी व्यवस्थित ढंग से कुछ नहीं लिखा। परन्तु माइकलएंगेलो²¹ के शिल्प मोजेज को देखने के बाद उसने अपने अनुभव प्रस्तुत किए एवं साथ ही कला व कलाकार के बीच के अंतर्संबंधों को भी जानने का प्रयास किया।

इसी प्रकार फ्रॉयड ने लियोनार्दो²² की कृतियों के संदर्भ में भी अपने विचार प्रस्तुत किए। फ्रॉयड ने लियोनार्दो पर लिखे साहित्य को आधार बनाते हुए नये रूप से चित्रों की समीक्षा की और माना की लियोनार्दो की कलात्मक सृजनात्मकता लिबिडो पर आधारित है। जो कि मस्तिष्क की मूल प्रवृत्ति है।

लियोनार्दो के संदर्भ में उसके बचपन में उसकी माँ के प्रति उत्पन्न हुए घनिष्ठ प्रेम को बचपन से ही दबा दिया गया और बाद में यही उसकी सृजनात्मकता के रूप में प्रदर्शित हुई। फ्रॉयड का यह सामान्य दृष्टिकोण रहा है कि मानव प्रेरणा सृजनात्मकता को प्रेरित करती है जोकि मनोवैज्ञानिक सौंदर्यशास्त्र में सहायक है।²³

लिबिडो का अर्थ कभी-कभी उर्जा के रूप में लगाया जाता है। तथा कभी-कभी काम ऊर्जा के रूप में भी जाना जाता है। फ्रॉयड के सिद्धांत में लिबिडिनल ऊर्जा का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि फ्रॉयड के अनुसार यही शक्ति जीवन में अंशमात्र में व्यक्ति के आत्म में व्याप्त रहती है और शेष मात्र में भौतिक संसार के अन्य व्यक्तियों, विषयों व घटनाओं में निहित रहती है।

जब इस ऊर्जा की अधिक मात्रा व्यक्ति के आत्म में व्याप्त हो जाती है, तब इसका स्वरूप आत्म प्रेम का अधिक होता है तथा तदनुसार बाह्य पदार्थों की ओर इसकी मात्रा घट जाती है। ऐसे ही जब इसकी मात्रा बाह्य पदार्थों में बढ़ जाती है, तब इसकी मात्रा आत्म में से तदनुसार कम हो जाती है।²⁴

फ्रॉयड के सिद्धांत में लिबिडिनल शक्ति के विभिन्न विषयों, आदर्शों व मूल्यों में लीन होने के तथ्य को विशेष महत्व दिया गया है, क्योंकि जीवन में इसके आधार पर ही व्यक्ति के व्यवहार के लिए आवश्यक अभिप्रेरणायें, दिशाएँ व आस्थाएँ उपलब्ध होती हैं।²⁵ लिबिडो कोई नैतिक बंधन स्वीकार नहीं करता, किन्तु अहम् सामाजिक नैतिकता के नियंत्रण में रहता है। इसलिए लिबिडो जनित इच्छाएँ जो सामाजिक

नैतिकता के विपरीत हैं, उन्हें अहम् दबाने की चेष्टा करता है।²⁶

किन्तु जब यही इच्छाएँ किसी रचनात्मक क्रिया के द्वारा अचेतन मन की गहराइयों से निकलकर प्रकट हो जाती हैं तो इस क्रिया को उदात्तीकरण कहते हैं। फ्रॉयड का यह विश्वास था कि कलाकार में उदात्तीकरण की विशेष क्षमता होती है।²⁷

फ्रॉयड ने इसका एक प्रमुख उदाहरण लियोनार्दो दा विंसी की कलाकृति *The virgin. Infant Jesus and Saint Anne* (चित्र सं.-1) के रूप में दिया है।

इस चित्र में लियोनार्दो ने सेंट एनी और सेंट मैरी को एक बालक के साथ चित्रित किया है। साधारण दृष्टि से चित्र देखने पर यह एक उच्चकोटि का बेहद खूबसूरत चित्र है। किन्तु यह चित्र लियोनार्दो के अपने बचपन का संमिश्रण है। उसकी दोनों माताएँ जिन्होंने बच्चे लियोनार्दो की देखभाल की, की प्रतीक है और बदले में वह अपना प्यार और निष्ठा प्रदान करता है। लियोनार्दो के पिता यहाँ उपस्थित नहीं हैं। यह संयोगात्मक सुखद क्षण लियोनार्दो के बचपन की लिबिडिनल इच्छा को पूर्ण करती है।²⁸

फ्रायड ने इस चित्र को लियोनार्दो द्वारा उसके बचपन के बारे में लिखे गए एक नोट से भी जोड़ा। जिसमें लियोनार्दो ने लिखा है कि मैं अपनी पुरानी यादों में से एक को याद करता हूँ कि जब मैं अपनी विकासावस्था में था तो एक गिद्द मेरे पास आया और उसने अपनी पूँछ की सहायता से मेरा मुँह खोला और फिर उसने मेरे होंठों पर अपनी पूँछ से कई बार मारा। फ्रॉयड ने इस घटना को बहुत ही शानदार माना।

फ्रॉयड के अनुसार “जब हम चित्र को उल्टा करके देखते हैं तो गिद्द नजर आता है। मेरी की नीली पोशाक के किनारे, एक आकार को गढ़ते हैं जोकि गिद्द की तरह लगता है। जिसकी पूँछ की नोक बच्चे के मुँह में है तथा पक्षी की पीठ एनी की बाँयी टाँग पर झुकी हुई है तथा इसका सिर मेरी की पीठ से जुड़ा हुआ है।²⁹(चित्र सं.-2)

फ्रॉयड ने कहा है कि कला मानसिक विकृतियों को, जो नैतिक मन से उत्पन्न होती है, दूर करने में सहायक होती है। जिन बातों को हम साधारणतः समाज में नहीं कर सकते तथा जो काम हम समाज में नहीं कर सकते, उन्हें कला के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं।³⁰

पाद टिप्पणी :

1 कार्ल मार्क्स (1818-1883) समाजवादी विचारधारा का जनक।

कार्ल मार्क्स 19वीं शताब्दी के उन राजनीतिक चिंतकों में जिनके दर्शन का 20वीं शताब्दी

- में अनेक देशों की सरकारों पर बहुत प्रभाव पड़ा। उनका मत था कि इतिहास आर्थिक और भौतिक आवश्यकताओं के अनुरूप बदलता और बनता है उन्होंने 'दास केपिटल और कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो' की रचना की शर्मा, विश्वमित्र, अंतर्राष्ट्रीय व्यक्ति कोश, राजपाल एण्ड संज, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1996, पृ. 59-60
- 2 चार्ल्स डारविन (1809-1882), विकासवाद सिद्धांत का जनक।
डार्विन ने संसार की एक सबसे अधिक प्रसिद्ध पुस्तक की रचना की। पुस्तक का नाम है 'द ओरिजिन ऑफ स्पीशीज' (जातियों की उत्पत्ति)। इसमें अपनी खोज के आधार पर डा. विन ने बताया है कि किस प्रकार आज के सभी पेड़-पौधों और जीव जन्तुओं का विकास अत्यन्त सरल बनावट के उन पेड़-पौधों और जीव-जन्तुओं से हुआ है जो इस पृथ्वी के सबसे पहले निवासी थे। इस पुस्तक ने बड़े गंभीर विचार-विमर्श को जन्म दिया। पूर्वोद्धृत पृ. 125
- 3 गाँधी (1869-1948) भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के कर्णधार।
मोहनदास करमचंद गांधी को सत्य और अहिंसा का अवतार माना जाता है। उनका जन्म 2 अक्टूबर 1869 को पोरबंदर राज्य में हुआ था।
पूर्वोद्धृत, पृ. 80
- 4 स्नायु-शरीर की रक्तवाहिनी नस, शिरा, नाड़ी।
पाठक, पण्डित रामचन्द्र (सम्पादक), आदर्श हिन्दी शब्दकोश, भार्गव बुक डिपो, वाराणसी, संशोधित संस्करण, 2001, पृ. 817
- 5 चिकित्सा-रोग दूर करने तथा शरीर को निरोग करने की विधि, रोग शांति का उपाय पूर्वोद्धृत, पृ. 228
- 6 फ्रॉयड, सिगमंड, मनोविश्लेषण, राजपाल प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2010, पृ. 5
- 7 गुरुत्वाकर्षण-पृथ्वी की आकर्षण शक्ति, भारी पदार्थों को पृथ्वी पर गिराने वाला आकर्षण।
पाठक, पण्डित रामचन्द्र, पूर्वोद्धृत, पृ. 199
- 8 सिंह लाभ, गोविन्द तिवारी, असामान्य मनोविज्ञान, आगरा, 1981, पृ. 155
- 9 व्यक्तित्व-व्यक्ति की शारीरिक और मानसिक विलक्षणताओं का संगठित रूप, इससे व्यक्ति के व्यवहार में एक निजी विशेषता आ जाती है जो उसे दूसरों से पृथक अपना विशिष्ट रूप प्रदान करती है।
शेरजंग, निर्मला, मनोविज्ञान का पारिभाषिक शब्दकोश (अंग्रेजी-हिन्दी, हिन्दी-अंग्रेजी), राधाकृष्ण, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2012, पृ. 128
- 10 फातिमा, डॉ. निगार, असामान्य मनोविज्ञान, राधा पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2010, पृ. 62
- 11 पूर्वोद्धृत, पृ. 63
- 12 प्रकाश, डॉ. जय, आधुनिक मनोविज्ञान की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अक. इंदौर, प्रथम संस्करण, 1973, पृ. 299
- 13 सुलेमान, डॉ. मुहम्मद, डॉ. मुहम्मद तौवाब, असामान्य मनोविज्ञान विषय और व्याख्या, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2004, पृ. 78

- 14 पाण्डेय, रामप्रसाद, मनोविज्ञान का इतिहास, राजकमल, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2012, पृ. 298
- 15 सिंह, लाभ, गोविन्द तिवारी, पूर्वोद्धृत, पृ. 146-147
- 16 सिंह, अरुण कुमार, उच्चतर नैदानिक मनोविज्ञान, मोती लाल बनारसीदास, दिल्ली, तृतीय संस्करण, 2008, पृ. 606
- 17 फातिमा, डॉ. निगार, पूर्वोद्धृत, पृ. 76
- 18 चतुर्वेदी, डॉ. ममता, सौंदर्यशास्त्र, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, चतुर्थ संस्करण, 2009, पृ. 143
- 19 विश्लेषण-किसी पदार्थ के संयोजन द्रव्यों या किसी बात के सब अंगों या तथ्यों को परीक्षा आदि के लिए अलग-अलग करना (एनेलेसिस)
वर्मा, आचार्य रामचन्द्र (संपादक), डॉ. बदरीनाथ कपूर (संशोधन सम्पादक) लोक भारती प्रामाणिक हिन्दी कोश, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण, 1996, पृ. 89
- 20 चतुर्वेदी, डॉ. ममता, पूर्वोद्धृत, पृ. 142
- 21 माइकलएंजलो-इटालियन कलाकार।
माइकलएंजलो जागरणकाल के महान कलाकारों में से थे। उसकी संसार के आश्चर्यों में है। उसने पीठ के बल चार वर्ष तक लेट कर वेटिकन नगर का कार्य पूर्ण किया। इस कार्य के कारण उसकी बहुत प्रशंसा हुई। शर्मा, विश्वमित्र, पूर्वोद्धृत, पृ. 219
- 22 लियोनार्दो दा विन्सी (1452-1519), इटालियन चित्रकार तथा वैज्ञानिक इटली के इस महत्वपूर्ण कलाकार को आज विश्वव्यापी महत्व प्राप्त है। वह चित्रकार : मूर्तिकार और वास्तुकार के रूप में संसार पर छाया रहा। वह केवल चित्रकार और मूर्तिकार ही नहीं था वरन् संगीतज्ञ, मैकेनिक, इंजीनियर और दार्शनिक भी था। पूर्वोद्धृत, पृ. 262
- 23 Funch, Bjarne Sode, The Psychology of Art Appreciation, Mussum Tusculanum Press, University of Copenhagen, 1997, p 142
- 24 Ibid, p.-147
- 25 कपिल, डॉ. एच. के. , अपसामान्य मनोविज्ञान, हरप्रसाद भार्गव, आगरा, प्रथम संस्करण, 1984, पृ. 129

26 पूर्वोद्धृत, पृ. 130

27  पृ. 144

28  पृ. 147

29  पृ. 146

30



डॉ. कृष्णा महावर
असि. प्रोफेसर,
चित्रकला विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. A
Sr. 9, 2016
ISSN : 2277-419X

उत्तर आधुनिक काल के नवीन कला आंदोलन

1917 में मार्शल धुशॉ द्वारा निर्मित "फाउण्टेन" के बारे में सभी परिचित हैं। परंतु इस अकेले आर्ट वर्क की महत्ता बहुत विशाल है। मार्शल धुशॉ ने अपने आर्ट वर्क से यह सिद्ध कर दिया था कि अब कला में सबसे अधिक महत्वपूर्ण कुछ बचता है तो वह है—आइडिया। जिसे किसी भी वस्तु द्वारा संप्रेषित किया जा सकता है और यह वस्तु मात्र सूचना के रूप में भी प्रयुक्त हो सकती है। परिणामस्वरूप 20वीं सदी की आर्ट में जो कुछ घटित हुआ वह मालेविच के "ब्लैक स्क्वायर", कोसुथ जोसेफ के "वन एण्ड थ्री चेर" में दिखाई देता है। पर यहीं अंत नहीं था। 'उत्तर आधुनिक काल' कहे जाने वाले समय में एब्स्ट्रैक्शन भी मौजूद था, फिगरेशन भी मौजूद था, कॉन्सेप्टुअल आर्ट तो अब तक हमारे साथ चल रही है। अगर नया कुछ हुआ तो वह था—इलेक्ट्रॉनिक और टेक्नोलॉजी के फलस्वरूप जन्मी कलाएँ। जिनमें लेजर लाइट, फैक्स आर्ट, कम्प्यूटर ग्राफिक, वीडियो, इन्टरनेट आदि हैं। यूरोप में कॉन्सेप्टुअल आर्ट को हाईली फिलासोफिकल या एण्टी आर्ट का दर्जा दिया गया।

एण्ड्री वारहोल और राबर्ट स्मिथसन की लैण्ड आर्ट, मरीना एम्ब्रेमोविक और योको ओनो के पर्फॉर्मेंस, जोन केज, जोर्ज बेख्त, ऐलन केपरो के लक्स फेस्टिवल, इनडोर/आउटडोर इन्स्टोलेशन, जोसेफकोसुथ के कॉन्सेप्टुअल आर्ट वर्क, जीन डुब. फे का कोलाज, विस क्लेन का पर्फॉर्मेंस, ऐलेन के केपरो के हैपनिंग, आर्वा गार्द प्रयोग, गाफिति, आर्ट नुओं आदि सभी के बारे में जानना एक नई दुनिया में प्रवेश करने जैसा है।

उपरोक्त अधिकांश कलाशैलियों के मूल आइडिया है। जिनमें कोई अंतिम आर्ट वर्क नहीं बनता बल्कि कला प्रक्रिया ही एक आर्ट है। ऐसे में दर्शक की भूमिका भी महत्वपूर्ण व जिम्मेदाराना हो जाता है। वह भी कला व कलाकार के उद्देश्य को पूर्ण करने की एक महत्वपूर्ण कड़ी बन जाता है। यही वह समय था जब ढेरों आर्ट म्यूजियम, कला दीर्घाएँ खुली, जिन्होंने कला व दर्शकों दोनों को मंच प्रदान किया। जब कलाकार अपनी कला में थोड़ा सा ही विजुअल संकेत देता है तो दर्शकों के पास उसके अर्थ निष्पादन का एक विशाल क्षेत्र खुल जाता है। इसलिए आज की

सभी नयी कला शैलियाँ दर्शकों को भी उतना ही रचनावान व परिष्कृत करती हैं जितना कि कलाकार खुद होता है। कुल मिलाकर 1960 के दर्शक के पश्चात् के समय में प्रचलित सबसे समृद्धशाली तकनीकों पर आधारित और विवादित तथा शंकाओं से घिरी नवीन कला अवधारणाएँ निम्न हैं

1. कॉन्सेप्टुअल आर्ट

“कॉन्सेप्टुअल आर्ट मात्र नेत्रों और भावनाओं की कला के बजाय मस्तिष्क संबंधी कला है।”—सोल ली विट कॉन्सेप्टुअल आर्ट एक कला आंदोलन है जो 1966 और 1972 के बीच अपने चरम बिन्दु पर था। शुरुआती कलाकारों में जोसेफ कोसूथ, रोबर्ट मोरिस, जोसेफ ब्यूज, मेल रेम्सडेन प्रमुख थे। संक्षेप में कहा जाये तो यूरोप में 20वीं सदी में चल रहे अन्य सभी आंदोलनों जैसे कि दादावाद, अतियथार्थवाद, अमूर्त अभिव्यंजनाविवाद, लक्सस समूह आदि के प्रभाव या यों कहें कि आधुनिक समय की समस्त स्वतंत्र कलाओं से प्राप्त ज्ञान का एक निचोड़ कॉन्सेप्टुअल आर्ट में आया। कॉन्सेप्टुअल कलाकार के अनुसार कला यदि सोचने पर मजबूर न करें तो निरर्थक है।

कॉन्सेप्टुअल आर्ट हमें कला के बुद्धिवादी अन्वेषण के उस चरम तत्व के प्रति आग्रह करती है जहाँ इसमें एक विशेष परिस्थिति की ओर इंगित करने की कोशिश होती है न कि कला, कला बनावट और समाज के प्रति।

कॉन्सेप्टुअल आर्ट का सर्वाधिक मूलभूत मंत्र यह है कि यह इन्द्रियों को प्रभावित करने वाली कला नहीं, बल्कि मस्तिष्क को प्रभावित करती है। यह पारम्परिक कला माध्यमों का इस्तेमाल नहीं करती क्योंकि इसका केन्द्र विचार है न कि कोई भौतिक वस्तु। यहाँ प्रक्रिया महत्वपूर्ण होती है न कि भौतिक सामग्रियाँ और चूँकि कला एक बुद्धिवादी सोच और तर्कों पर आधारित है न कि सौन्दर्यगत आनन्द पर तो कला कर्म हृदयों में छिपे विचारों का प्रदर्शन बन जाता है।

2. हैपनिंग

हैपनिंग एक प्रकार का पर्फॉमेन्स ही होता है जो कोई घटना या विशेष सिचुएशन में कला का रूप धारण कर लेता है। यह अधिकांशतः एक पर्फॉमेन्स आर्ट की तरह होता है। हैपनिंग कहीं पर भी हो सकता है। यह अन्तः अनुशासनात्मक होता है। जिसमें कोई विशेष संकेत या नेरेशन नहीं होता। हैपनिंग में दर्शकों की भी भागीदारी होती है। हैपनिंग का केन्द्रीय तत्व योजनाबद्ध हो सकता है, परंतु कभी-कभी कलाकार कुछ इम्प्रोवाइजेशन का भी प्रयोग करता है। इस न्यू मीडिया आर्ट की अवधारणा ने दर्शक और कला के बीच की सीमा रेखा को ही समाप्त कर दिया।

हैपनिंग में कोई भूमिका या दर्शन नहीं होता। बल्कि एक तात्कालिक इम्प्रोवाइज्ड तरीके में गुथी एक घटना होती है। इसमें कोई निर्देश नहीं होते इसलिए उसके परिणाम के बारे में भी कुछ नहीं कहा जा सकता। यह एक विचारों भरे मस्तिष्क से आरम्भ होता है, उसमें शब्द होते हैं लेकिन शब्दों का कभी कोई मतलब निकल जाता है तो कभी नहीं भी। यदि अर्थ होता भी है तो जरूरी नहीं कि वही हो जो पूरा वातावरण अर्थ दे रहा है। इसलिए उनमें एक संक्षिप्त, सूक्ष्म और अलगाव वाली विशेषता होती है। यदि उनका कोई अर्थ न भी हो तो भी एक प्रकार से दुनिया के प्रति प्रतिक्रिया तो होती है। यहाँ पर विफलता का कोई स्थान नहीं होता। यदि कोई गलती कर जाता है तो आगे चलकर उसके भी सकारात्मक परिणाम ही आते हैं। इस तरह के चमत्कार पूर्ण हैपनिंग विशेष मौकों पर निर्भर होते हैं। निष्कर्ष रूप में—“ हैपनिंग जब खत्म होता है तो ताजगी देता है और दुबारा तैयार नहीं किया जा सकने वाला अनुभव देता है।”

3. इन्स्टालेशन आर्ट

इन्स्टालेशन आर्ट पूरी तरह से त्रिआयामी आर्ट वर्क होता है परंतु यह एक ऐसी कला शैली भी जिसमें एक साथ कई आयाम भी हो सकते हैं और जिस स्थान पर यह निर्मित किया जाता है उस स्थान के मायने ही बदल देता है। इन्स्टालेशन प्रमुखतया साइट स्पेसिफिक (विशेष डिजाइन या जगह पर विशेष तरीके से कार्य) ही होता है।

इन्स्टालेशन आर्ट स्थायी या अस्थायी भी दोनों हो सकते हैं। इन्स्टालेशन किन्हीं आन्तरिक जगहों जैसे कला दीर्घाओं या संग्रहालयों के भीतर किये जा सकते हैं या किसी सार्वजनिक या निजी स्थानों पर भी। इस शैली में दैनिक जीवन में काम आने वाली साधारण सी वस्तुओं और सामग्रियों का प्रयोग किया जाता है। जिनमें कुछ कहने या सम्प्रेषण करने की विशेषता होती है। इन्स्टालेशन में वीडियो, साउंड, पर्फॉर्मेंस, इन्स्टालेशन आदि न्यू मीडिया का भी प्रयोग किया जाने लगा है। इन्स्टालेशन साइट स्पेसिफिक होने के कारण पूरी तरह त्रिआयामी गहराई लिये भी होते हैं और उनमें एक अपील योग्यता होती है।

4. पर्फॉर्मेंस आर्ट

यह पर्फॉर्मिंग आर्ट बिल्कुल नहीं है। बल्कि यह कला का ही एक हिस्सा होते हुये दर्शकों के सम्मुख प्रस्तुत एक कलात्मक पर्फॉर्मेंस होती है। परम्परागत रूप में यह अन्तः अनुशासनात्मक है। पर्फॉर्मेंस के लिए स्क्रिप्ट का भी प्रयोग किया जा सकता है और बिना स्क्रिप्ट के भी पर्फॉर्मेंस की जा सकती है। यह बिना पूर्व

तैयारी के या पूरी तरह तैयारी के साथ भी हो सकती है। कहीं पर भी अचानक या यकायक भी पर्फॉर्मेंस उपस्थित हो सकती है या योजनाबद्ध तरीके से भी की जा सकती है। दर्शक या दर्शक के बिना और सीधे दर्शकों के सामने या किसी मीडिया के द्वारा दर्शकों के लिए पर्फॉर्मेंस उपस्थित होती है। पर्फॉर्मेंस भी या तो उपस्थिति दे सकता है या अपनी अनुपस्थिति में भी दर्शकों के समक्ष किसी भी माध्यम के द्वारा पर्फॉर्मेंस के सकता है। पर्फॉर्मेंस में कोई भी परिस्थिति हो सकती है जो टाइम, पर्फॉर्मेंस की बॉडी और किसी भी माध्यम में उपस्थिति जैसे चार तत्वों को समाहित करती है। पर्फॉर्मेंस और दर्शकों के बीच एक संबंध भी स्थापित होना चाहिये। पर्फॉर्मेंस आर्ट कहीं पर भी की जा सकती है। किसी भी स्थान या सेट पर और कितनी भी अवधि के लिये की जा सकती है। किसी अकेले व्यक्ति या समूह के द्वारा किसी विशेष जगह पर किसी विशेष समय में गुथाँ हुआ एक आर्ट वर्क पर्फॉर्मेंस आर्ट कहलाती है।

5. न्यू मीडिया आर्ट

न्यू मीडिया आर्ट की एक ऐसी शैली है जो नई मीडिया टेक्नोलॉजी जैसे डिजिटल आर्ट, कम्प्यूटर ग्राफिक, कम्प्यूटर एनिमेशन, वर्चुअल आर्ट, इन्टरनेट, इन्-टरेक्टिव आर्ट, विडियो गेम्स, कम्प्यूटर रोबोटिक्स और बायोटेक्नोजिकल आर्ट के रूप में होती है। यह आर्ट सामाजिक और सांस्कृतिक बदलाव के रूप में फलित हुई और पारम्परिक कलाओं जैसे पेंटिंग, स्कल्पचर आदि के विरोधी रूप में देखी जा सकती है। इन नये माध्यमों में काम करने वाले कलाकार समकालीन कला के अधिक दायरे में आते हैं।

इस तरह की अन्तर्दृष्टि कल्चर प्रेक्टिस के रूप में प्राप्त होती जो नई तकनीकों के धरातल लिये होती है। न्यू मीडिया अधिकतर टेलीकम्यूनिकेशन, मास मीडिया, डिजिटल इलेक्ट्रॉनिक मोड आदि से जुड़ी होती है जिनका प्रयोग कॉन्सेप्टुअल आर्ट को वर्चुअल आर्ट में ले आना या पर्फॉर्मेंस को इन्स्टालेशन के रूप में अभ्यास करते हुये किया जाता है।

न्यू मीडिया आर्ट प्रेक्टिस कभी भी एक समान प्रेक्टिस के रूप में नहीं होती बल्कि यह तीन तत्वों के मिश्रण की जटिल प्रक्रिया है। 1. आर्ट 2. वैज्ञानिक और औद्योगिक रिसर्च 3. राजनीतिक सांस्कृतिक मीडिया आंदोलन। यहाँ पर पर वैज्ञानिक कलाकार, एक्टिविस्ट-कलाकार, और टेक्नोलोजिकल आर्टिस्ट सभी आर्ट से जुड़े हैं, पर भिन्न विशेषता लिये हुये होते हैं। जिनकी भिन्न ट्रेनिंग होती है और भिन्न टेक्नोकल्चर होता है। इसलिए भिन्न कलात्मक प्रतिक्रिया होती है। ये सभी किसी न्यू

मीडिया आर्ट के अध्ययन के दौरान ध्यान में रखने योग्य बातें हैं।

6. इन्टरेक्टिव आर्ट

इन्टरेक्टिव आर्ट एक प्रकार की कला शैली है जिसमें देखने वाले दर्शक भी भाग लेते हैं और उसके अर्थ को भी खोजते हैं। यह पारम्परिक कला शैलियों से भिन्न है जहां पर दर्शकों का कला से केवल मानसिक स्तर पर ही जुड़ाव होता था। इस तरह का सम्प्रेषण या कम्युनिकेशन कई भिन्न तरीकों से कलाकृति पर आधारित होता है जैसे एकत्रित होना, योगदान देना या दिशा दिखाना जो पूरी तरह मनोवैज्ञानिक होता है। इन्टरेक्टिव एक तरह का माध्यम बन जाता है। जो अर्थ प्रदान करता है।

इन्टरेक्टिव आर्ट ऐसी आर्ट है जिसमें दर्शक कुछ इस तरह से भाग लेता है कि वह उस आर्ट की निर्मिति के उद्देश्य तक पहुँच सके। कुछ इन्सटालेशन तो इस तरह के बने जिनके भीतर होकर दर्शक गुजरता है, चलता है और उसके साथ एक रूप होकर उसके अर्थ को ग्रहण करता है। कुछ इन्सटालेशन में तो कलाकार स्वयं ही उसका हिस्सा बन जाता है।

इस तरह की आर्ट में कम्प्यूटर का प्रयोग होता है जिन्हें कुछ विशेष इनपुट देने के लिये प्रोग्राम भी किया जाता है साथ ही गति, गर्माहट व मौसम के अन्य परिवर्तनों को भी उत्पन्न किया जाता है। इण्टरनेट आर्ट व इलेक्ट्रॉनिक आर्ट तो उच्च स्तर पर इण्टरेक्टिव आर्ट माने ही जाते हैं। दर्शक इस तरह के सॉटवेयर व शीघ्र गतिविधियों को समझ पाने में सक्षम होते हैं। कभी तो दर्शक स्वयं किसी आर्ट पर्फॉर्मेंस का हिस्सा बन जाते हैं तो कभी बाहरी रूप से उन पर कोई दृश्य या लिखित रूप में प्रयोग भी किये जाते हैं।

7. पब्लिक आर्ट

पब्लिक आर्ट में किसी भी तरह की आर्ट आ सकती है। जो रास्तों, चौराहों, भवनों के बाहरी हिस्सों, दीवारों आदि कहीं पर भी निर्मित होती है। इसकी भौतिकता के अतिरिक्त कला के विषय और दर्शकों के बीच के संबंधों पर भी विशेष ध्यान दिया जाता है।

पब्लिक आर्ट किसी भी माध्यम में बनी ऐसी आर्ट है जो किसी सार्वजनिक स्थान या जगह पर स्थापित करने या बनाने के उद्देश्य से ही नियोजित की जाती है। आमतौर पर सभी लोगों के द्वारा पहुँच सकने या देख सकने के लिये बाहरी स्थानों पर ही पब्लिक आर्ट सृजित की जाती है। पब्लिक आर्ट आज के कला संसार में क्यूरेटर्स, कमीशन संस्थानों और युवा कलाकारों के बीच काफी प्रचलित है

जो मुख्यतया साइट स्पेसिफिक कार्यों, समुदायों से जुड़ावा और उनसे जुड़कर काम करने में रूचि रखते हैं।

स्मारकों, मूर्तियों आदि को प्रथम अधिकारिक और स्वीकृत पब्लिक आर्ट माना जा सकता है। यहाँ तक की आर्किटेक्चर को भी बार इस तरह की आर्ट में गिना जाता रहा है।

8. लैण्ड आर्ट

लैण्ड आर्ट एक ऐसा आर्ट मूवमेन्ट है जिसमें प्राकृतिक दृश्य और आर्ट वर्क दोनों बहुत गहराई से जुड़े रहते हैं। यहा ऐसी कला का भी प्रतिनिधित्व करती है जो प्रकृति के अंतर्गत निर्मित की गई हो, जिसमें प्राकृतिक सामग्रियाँ ही इस्तेमाल की गई हों जैसे—मिट्टी, पत्थर, चट्टानें, पत्ते, टहनियाँ, पानी, बर्फ आदि। साथ ही इसमें कंक्रीट, धातु, प्राकृतिक पिगमेन्ट आदि भी बहुतायत में प्रयोग किये गये हैं। किसी कलाकृति को प्रकृति में प्रदर्शित नहीं किया जाता बल्कि प्रकृति स्वयं ही अलग अन्दाज में सृजित हो जाती है और कलाकृति बन जाती है इस तरह के आर्ट वर्क अधिकतर शहरी आबादी से दूर और खुली जगहों पर बनाये जाते हैं जो प्राकृतिक परिस्थितियों के साथ ही संघर्ष करते हुये समाप्त भी हो सकते हैं। इस तरह के आर्ट वर्क की एक प्रमुख शाखा साइट स्पेसिफिक स्कल्पचर भी है जो किन्हीं बाहरी क्षेत्रों में विशेष रूप से चुने हुए स्थान के लिये ही बनाये जाते हैं।

9. इन्वायरमेन्टल आर्ट

यह शब्द कई प्रकार की कलाओं के लिए प्रयोग में लाया जाता है। जैसे ऐसी कला जो प्राकृतिक दुनिया का विश्लेषण करती हो, ऐसी कला जो कलाकार के द्वारा प्राकृतिक दुनिया से निजी संबंध स्थापित करती हो जैसे —Art in nature और ऐसे अभ्यास करना जिनमें वातावरणीय मुद्दों से सीधे संवाद बनाये गये हों जैसे—पर्यावरण ग्रात्मक कला (Ecological Art of Eco-art) लोगों को प्रकृति के बारे में ज्ञान प्रदान करना, प्रकृति की सुरक्षा, संरक्षण करना और इससे संबंधित कलात्मक आयोजन करना आदि इन्वायरमेन्टल आर्ट में समाहित है।

इन्वायरमेन्टल आर्ट ऐसी बहुत प्रकार की आर्ट प्रेक्टिस के लिये काम में आने वाला अन्ब्रेला टर्म है जो कला में प्रकृति संबंधी ऐतिहासिक अवधारणा व बहुत नवीन अवधारणा और राजनीति से प्रेरित आर्ट वर्क तथा इकोलॉजी के इर्द-गिर्द घूमती है। “ये लोग कोई प्राकृतिक दृश्य नहीं बनाते बल्कि उसमें जुड़ जाते थे, उनकी कला कोई लैण्डस्केप नहीं होती बल्कि उस लैण्डस्केप में सृजित होती थी।”

10. आर्टिस्ट इन रेजिडेन्सी

आर्टिस्ट इन रेजिडेन्सी प्रोग्राम का मुख्य उद्देश्य कलाकारों, अकादमिशियनों, क्यूरेटर्स और अन्य कलात्मक व्यक्तियों को उनके अपने माहौल से निकालकर एक ही समय में अन्य स्थान पर एकत्रित करना है, जिसके द्वारा यहाँ पर सभी इकट्ठे होकर एक साथ शोध, प्रेजन्टेशन, नये प्रोडक्शन और विचारों का आदान प्रदान कर सकें। ये प्रोग्राम किसी कलाकार को अपने स्वयं की आर्ट प्रेक्टिस करने, नये लोगों से मिलने, नई सामग्रियों की खोज करने और अनुभव करने आदि के मौके प्रदान करती है, ये मौके नई जगह और नये समुदायों में होते हैं, क्योंकि आर्ट रेजिडेन्सी विभिन्न संस्कृतियों के अर्थपूर्ण आदान प्रदान और दूसरी संस्कृतियों को गहराई से समझने पर जोर देता है। कुछ रेजिडेन्सी प्रोग्राम तो विशाल कोपोरेट से संबंधित होते हैं कुछ ऑर्गेनाइजेशन अकेले ही रेजिडेन्सियल एक्सचेंज प्रोग्राम आयोजित करती है। रेजिडेन्सी किसी भी संग्रहालय, यूनिवर्सिटी, गैलरी, स्टूडियो स्पेस, थियेटर, आर्टिस्ट-इन-स्पेस, म्युनिसिपैलिटी, गवर्नमेन्ट ऑफिस और फेस्टिवल का हिस्सा हो सकती है। ये रेजिडेन्सी वार्षिक, किसी समय विशेष में या हमेशा आयोजित हो सकती है। ये किसी शहरी स्थानों, पिछड़े गाँवों या घने प्राकृतिक स्थानों पर आयोजित की जा सकती है। पूरे दुनिया में ऐसे सैकड़ों अवसर और ऑर्गेनाइजेशन मौजूद हैं जो रेजिडेन्सी का आयोजन करते हैं।

11. साइट स्पेसीफिक आर्ट

साइट स्पेसीफिक आर्ट दुनिया में किन्हीं विशेष परिस्थितियों के प्रति प्रतिक्रिया स्वरूप आधुनिकता के आगमन के पश्चात् आरम्भ हुई। आधुनिक कलाकृतियाँ कहीं भी लाने ले जाने में आसान, घूम सकने वाली और संग्रहालयों व दीर्घाओं में रखी जाने वाली होती है और साथ ही बाजार में खरीदी व बेची जाने वाली वस्तु भी होती है। 1960 में कलाकार इन परिस्थितियों से बाहर आने के प्रयास कर रहे थे तब उनका ध्यान उस विशेष स्थान की तरफ गया जहाँ पर कोई कलाकृति बनायी या स्थापित की जाती है या जा सकती है उस 'साइट' या स्थान के सभी संदर्भों को ही कलाकृति का मुख्य मुद्दा बनाया गया। कलाकृतियाँ उस विशेष स्थान पर 'साइट' स्पेसीफिक' विशेष परिस्थितियों में व विशेष समय में ही अपना अस्तित्व बनाती है। उसे वहाँ से नहीं हटाया जा सकता है न ही परिवर्तित किया जा सकता है। वह 'साइट' विशेष स्थान एक ऐसा लोकेशन बन जाता है जो कुछ भौतिक तत्वों के समूह से मौलिक कलाकृति उत्पन्न करता है। उसमें गहराई, लम्बाई, भार, ऊँचाई, आकार, दीवारें, तापमान सभी शामिल होते हैं।

साइट स्पेसीफिक ऐसा आर्ट वर्क होता है जो किसी विशेष स्थान पर ही तैयार किया जाता है। कलाकार के मस्तिष्क में कोई भी आर्ट वर्क की योजना बनाते

प्रो. किरन सरना (शोध निर्देशिका)
विनीत कुमार, शोधार्थी
दृश्यकला विभाग
वनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. A
Sr. 9, 2016
ISSN : 2277-419X

“काली कुमाऊँ की सामाजिक पृष्ठभूमि”

किसी भी स्थान विशेष के लिए अब यह तथ्य सर्वमान्य हो गया है कि वहाँ निवास करने वाले निवासियों की सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था उस स्थान की भौगोलिक संरचना पर निर्भर करता है। काली कुमाऊँ के उत्तर और दक्षिण में जहाँ एक ओर पौराणिक जनजातियों का गढ़ है तो पूर्व में नेपाल और उसकी संस्कृति। अतः सम्पूर्ण काली कुमाऊँ को अनेक देशी-विदेशी जातियों की संगम स्थली की संज्ञा दे सकते हैं।

काली कुमाऊँ के सामाजिक इतिहास का यदि आकलन किया जाए तो पायेंगे कि यहाँ विभिन्न जातियों के लोगों को भौगोलिकता के आधार पर मुख्यतः तीन पट्टियों में विभक्त किया गया है। वे लोग जो उच्च हिमालय क्षेत्रों में बसे तिब्बती या मंगोल प्रजाति के लोग हुए, जो मध्यवर्ती क्षेत्रों में बसे वे खस या खसिया कहलाये तथा सबसे निचली हिमालय पट्टी में जो बसे वे कुलीन खस कहलाये। सर्वप्रथम यहाँ खसों का राज था। इसके पश्चात् यहाँ हुँगों का आगमन हुआ, जिन्हें दानव या दाणु कहा गया। फिर कत्यूरियों के काल में एवं उनके अभिलेखों में किरात जाति का भी उल्लेख मिलता है। कत्यूरियों के बिखरने के पश्चात् यहाँ चन्दों का प्रभुत्व बढ़ा। इसके बाद चन्दों ने काली कुमाऊँ में जिस सामाजिक व्यवस्था को अपनाया, उस व्यवस्था ने सम्पूर्ण क्षेत्र को एक सूत्र में पिरोया।

चन्द राजाओं ने सम्पूर्ण काली कुमाऊँ की सामाजिक व्यवस्था को “चाराल (चार आल) पट्टी” के नाम से विभक्त किया था। चन्द राजाओं की राजधानी काली कुमाऊँ अर्थात् वर्तमान चम्पावत में सदियों तक रही जो इन चार पट्टियों के ठीक मध्य में था। इन क्षेत्रों का नाम “चार आल” इसलिए पड़ा क्योंकि चन्द राज्य के प्रमुख चार कुलों की गढ़ियाँ अर्थात् उनके निवास स्थान राजा के गढ़ के चारों ओर से घिरे हुए था। इन चार आलों को चार प्रमुख ‘बूड़ा’ में विभक्त किया गया था। एक प्रकार से ये बूड़ा चन्द शासकों द्वारा नियुक्त “सामन्त” थे जो सेना एवं पुलिस कार्यों को देखते थे और राजा के “राज बुड्डी” अर्थात् दुर्ग की रक्षा करते थे। चन्द राजाओं को सम्पूर्ण काली कुमाऊँ की सामाजिक व्यवस्था को स्थापित करने

का श्रेय दिया जाता है। चन्द अपने साथ आये अपने 21 सहायकों को लेकर जब 21 एकड़ वाला चम्पावत का छोटा सा राज्य भार संभाला तो शासन प्रबन्ध में स्थानीय जनों को भी शामिल करने की अतीव आवश्यकता को महसूस किया।² इसी आवश्यकता वश चन्दों ने अपने छोटे से काली कुमाऊँ वर्तमान चम्पावत राज्य में 08 वर्ग निश्चित किये और उन्हें निम्नवत् नाम दिये—

1. चौथानी—

काली कुमाऊँ के चन्द कालीन समाज में सबसे श्रेष्ठ ब्राह्मण जातियों को चौथानी कहते थे। सबसे ऊपर ‘चौथानी’ या ‘बारथानी’ ब्राह्मण आते थे। जिनका पकाया हुआ भोजन सभी जातियों के लोग खा लेते हैं। अन्य ब्राह्मण इनके नीचे रखे गये—

2. चार बूड़ा—

काली कुमाऊँ के निवासी पट्टियों के नाम से जाने जाते थे जो यहाँ की विशेषता हैं और इनके प्राचीन इतिहास की झलक देती है। चार आल पट्टी में चार कबीले प्रसिद्ध रहे हैं—कार्की, बोहरा, चौधरी तथा तड़ागी। इन जातियों के संगठन सरदार को “बुड़ा” कहते थे।



कार्की बूड़ा—

- कार्की चम्पावत के पास कर्क्यूड़ा गाँव में रहते थे।
- चन्द राजाओं के समय इनका बहुत प्रभाव था।
- ये पाल-विलौन पट्टी में वसूली का कार्य करते थे।
- इनके कुल देवता ‘गोरिल’ है।

बोहरा बूड़ा—

- बोहरा गिड़या नदी के किनारे फुंगर गाँव में रहते थे ।
- चन्द और गोरखा शासन काल में सम्पूर्ण काली कुमाऊँ में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही।
- ये तल्ला देश पट्टी के सामन्त थे।
- फुंगर के ये बोहरा दानव वंशी माने जाते हैं जो घटोत्कच को अपना कुल देवता मानते हैं।

चौधरी बूड़ा—

- चौधरी बूड़ा चम्पावत के चक्कू और ढकना गाँव में रहते थे।
- चन्द राजाओं के चार सामन्तों में से एक थे।
- इनको अपने गाँव के आस-पास का क्षेत्र मालगुजारी के लिए मिला हुआ था।
- इनके कुल देवता 'श्रीखण्ड' हैं।

तड़ागी बूड़ा—

- तड़ागियों का गाँव मेलकोट था।
 - चन्द राजाओं के उत्थान में तड़ागियों का विशेष योगदान रहा।
 - इनको सिप्टी पट्टी वसूली गुजारे के रूप में प्राप्त थी।
 - तड़ागियों के कुल देवता 'नागनाथ' हैं।
- इन चारों बूड़ों में सदा से ही मतभेद की स्थिति बनी रही । इनके विषय में एक स्थानीय कहावत अभी भी सुनने को मिलते हैं कि—

तड़ागी तड़फड़ करै, चौधरी है कंगाल।

एकला कार्की क्या करै, बौरा संग की मार।।

3. पाँच थोक—

पाँच थोकों का वर्ग क्षत्रिय कहलाता था। जो समस्त आल अर्थात् थातवानों में सबसे ऊपर थे। इनका कार्य राजस्व वसूली की प्रधान जिम्मेदारी थी।

4. छः धरी—

इस वर्ग के लोग राजतन्त्र अथवा सरकारी सेवा में थे। कालान्तर में इस वर्ग के लोग चौथानी और पंचबड़िये में चले गये।

5. बार अधिकारी (क्षत्रिय वर्ग)

यह वर्ग चार आलों के 12 धड़ों के सरदार होते थे। जो धोनी, मोनी, चौधरी,

,बोहरा, तड़ागी, कार्की, फर्त्याल, महर आदि थे।

6. पंच बड़िये—

इस वर्ग में अप्रवासी ब्राह्मण आते थे जो पूजा-पाठ करे परन्तु इनको ‘भल ब्राह्मण’ नहीं माना जाता था।

7. खर्कवाल या खटकबाल—

यह एक ब्राह्मण वर्ग था जो राजकीय सेना के साथ चलते थे।

8. पौंड पडार (बिसु)—

यह एक स्थानीय जातीय समूह था। इनका पद थोकदार से ऊपर होता था जो राजस्व वसूली के कार्यों को देखता था।

उपरोक्त वर्ग विभाजन में ‘धर्माधिकारी’ नियुक्त किये गये थे जो यह देखते थे कि पितली ब्राह्मण चाँदी-पीतल के ही आभूषण पहने तथा लम्बी धोती की जगह छोटी धोती पहने। इसी प्रकार खसिया भी चाँदी-पीतल के आभूषण धारण करे। डोम लोग खपरिया के आभूषण पहने तथा टांगो से ऊपर कम्बल धारण करे। व्यवस्था यह भी थी कि केवल खस या डोम ही बचे या खरीदे जा सकते हैं।³ वर्तमान समय में यहाँ पुरातन जातियों के साथ साथ राजी, भोटिया, थारू, बोक्स, बनरौत एवं जोहारी आदि जातियाँ भी निवास करती हैं।

काली कुमाऊँ में जाति के आधार पर ही सामाजिक व्यवस्थायें निर्भर थी। समाज में जातीय विविधता का सीधा अभिप्राय यह होता है कि रीति-रिवाज और रहन-सहन में भी भिन्नता। अतः काली कुमाऊँ के लोक जीवन में विभिन्नता के

चन्द राजओं द्वारा काम के आधार पर जातियों का विभाजन—

- दरबार में गंगा जल छिड़कने वाले को गंगा वश्णु या वैश्णव के नाम से जाना जाता था।
- वेद-शास्त्र के वाचक को –‘पाठक’ कहा गया।
- लिखने वाले को लेखक, पढ़ाने वाले को उपाध्याय, पुराहित एवं गुरु को पाण्डे, ज्योतषी को जोषी नाम दिया गया।
- पानी वाले को पनरू, मवेशियों के प्रभारी को काण्डपाल, काफल लाने वाले को कफलिया, कहते थे।
- लीपने वाले को साँका, हथियारों के प्रभारी को सेज्याली, ताँबे का पत्र बनाने वाले को टम्टा, बजाने वाले को बजनिया, रात में पहरा देने वाले प्रहरी पुकारते थे।
- ताम्रपत्र उत्कीर्ण करने वाले को सूत्रधार, सुदार, सुनार, या साहू, कहते थे।

दर्शन स्वभाविक है। जिसके प्रमाण यहाँ के रहन-सहन, भाषा-बोली, खान-पान एवं वस्त्रों-आभूषणों में मिलते हैं।

काली कुमाऊँ में पहनावे के रूप में पुरुष प्रायः धोती, पजामा, अचकन और टोपी पहनते रहे हैं। महिलाओं के पहनावे में अंगिया, घाघरा, लहंगा और धोती जैसे पारम्परिक वस्त्र ही प्रचलित हैं। परन्तु आधुनिक समय में ये पारम्परिक वस्त्र केवल विशेष अवसरों पर ही पहने जाते हैं। आभूषण के रूप में महिलायें नाक की नथ, गुलोबन्द, कान के मुनड़े, झुपझुपी, बाली और उतरौले, हाथ के कंगन, पहुंची, चूड़ियाँ, धागुले, बिछुवे, पाजेब आदि का प्रयोग करती हैं।

काली कुमाऊँ की भाषा – बोली “कुमैय्या” बोली है। बोली का एक अलग लालित्य यहाँ के लोकगीतों में और भी आकर्षक ढंग से मिलता है। जैसे अग्रलिखित एक स्थानीय लोक-गीत में प्रियसी अपने प्रेमी को पत्र के माध्यम से कहती है—

गिलास को टंडो पानी, रुमाली को साया।

चिटि में जवाब घूंलों, बाटुई में माया।।

अर्थात् उपर्युक्त पंक्तियों में प्रियसी अपने प्रेमी की याद में कहती है कि शीतल जल को मैंने रुमाल से ढक कर रखा है कि जब तुम्हारी याद में हिचकी आये तो जल पीकर उसे शान्त कर सकूँ।

काली कुमाऊँ के समाज में वर्ण व्यवस्था की भाँति खान-पान में भी भिन्नतायें हैं। यहाँ के निवासियों का सामान्य भोजन चावल, दाल-रोटी और स्थानीय साग-सब्जी है। यहाँ के भाबर तथा पहाड़ी क्षेत्रों में खान-पान में अंतर है। मैदानी क्षेत्रों में सामान्यतः लगभग हर प्रकार के भोजन किये जाते हैं और पहाड़ी क्षेत्रों में कुछ स्थानीय विशेष भोजन किये जाते हैं। स्थानीय पहाड़ी भोजन में सिसुण का साग, मडुवे की रोटी, झंगूर का भात, झोली-भात, छोई, पुवे, लगड़, गुड-पापड़ी, डुबके, भांग की चटनी, जौला, चिलड़, खीर, हलुवा, च्यूड़ा, खजूरे, रोट या मालपुआ, बांबर तथा लिटुआ आदि सामान्य एवं त्योहारों में खाये जाते हैं।

सम्पूर्ण काली कुमाऊँ प्राचीन काल से ही धर्म प्रधान समाज को परिभाषित करता आ रहा है। यहाँ जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त तक धर्म शास्त्रों और धर्मशास्त्रियों ने मानव जीवन में सोलह संस्कारों का नियमन किया है। आज के आधुनिक जीवन शैली में भले ही इन संस्कारों को लघु कर दिया गया है फिर भी पहाड़ के निवासियों ने इन संस्कारों के औचित्य को अपने जीवन से परे नहीं किया। जन्म से लेकर मृत्यु तक के इन समस्त सोलह संस्कारों को निभाने के लिए आज भी पहाड़वासी अपने गाँवों और अपने लोक-देवता की ओर चले आते हैं। इन सोलह संस्कारों में

नामकरण, अन्नप्राशन, चूड़ाकरण संस्कार, उपनयन (जनेऊ धारण), विवाह तथा अन्तिम संस्कार जैसे प्रमुख संस्कारों को यहाँ के निवासी अपने-अपने धार्मिक रीति-रीवाजों के आधार पर सम्पन्न करते हैं।

अतः काली कुमाऊँ की यह प्राचीन धरती जो कालान्तर में चन्द वंशीय राज्य तंत्र के एकछत्र सामाजिक व्यवस्था के सूत्र में बंधा रहा, अपने पारम्परिक संस्कारों को आज भी निष्ठापूर्वक निभाते हुए जीवन को गतिमान किये हुए हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. नैथानी, डॉ० शिव प्रसाद एवं नैथानी, मोहन 2002, उत्तराखण्ड का ऐतिहासिक एवं संस्कृतिक भूगोल, पवेत्री प्रकाशन श्रीनगर, गढवाल, पृष्ठ-225-226
2. वही, पृष्ठ-227
3. वर्मा, इन्द्रलाल, 2013, उत्तराखण्ड का सीमान्त जनपद चम्पावत, विनसर पब्लिशिंग कम्पनी, देहरादून, पृष्ठ-97

प्रो. किरन सरना (शोध निर्देशिका)
कृ. नेहा बसेड़ा (शोधार्थी)
दृश्यकला विभाग
वनस्थली विद्यापीठ (राज०)

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. A
Sr. 9, 2016
ISSN : 2277-419X

संस्कृत कला का विकास, दृश्यकला

“सरिता जल की वह धरा है जो पहाड़ों की चोटियों पर संचित जल का संबल ले, कल-कल करती, पत्थरों को काटती, जंगलों में घूमती, मैदानों-मैदानों में रेंगती उतरती है और निरन्तर अपना टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता बनाती तब तक चली जाती है, जब तक कि सागर का विशाल दामन उसे अपने में छिपा नहीं लेता है, जैसे उसे जन्म-जन्मान्तर से इसी गहराई की खोज हो, वह पग-पग पर गहराई ,खोजती चलती है और जहाँ पा जाती है, झपट पड़ती है उसी ओर, जैसे यही गहराई उसके जीवन का लक्ष्य हो जीवन एक खोज है। मनुष्य जो कुछ करता है इसी खोज के लिए। इसी खोज में सरिता पाषाणों को काटकर पृथ्वी में दरार बनाती तब तक चली जाती है जब तक अन्तिम गहराई नहीं पा जाती। मनुष्य भी अपनी कलाओं के आधार पर इसी खोज में रत होता है। मनुष्य की कला इसी खोज का एक माध्यम है”¹

“मानव आरम्भिक काल से ‘कला’ सृजन एवं कला वृत्ति करता रहा है। संभव है उनके प्रारम्भिक प्रयास प्राकृतिक एवं कृत्रिम उपादनो द्वारा स्वयं को सजाने-सवारने तक सीमित रहे हो सभ्यता के विकास के साथ मानव की कलात्मक अभिव्यक्ति का दायरा बढ़ा और कला वस्तुओं के निर्माण में उनकी अभिरुचि उत्पन्न हुई”²

“भारतीय कला का स्वरूप जितना प्रशस्त है, उतना ही इसका इतिहास पुरातन है। इसके सम्पूर्ण कलेवर में समाहित अनेक माध्यमों मूर्ति, चित्रा आदि की अपनी विशिष्ट धाराएं हैं। सभी-धाराओं में भारतीय कला की अनेक विधियों की सर्जना हुई है।”³

“कला रूपों का निर्माण करती है, वे रूप हमारे जीवन में भरते हैं। जीवन रूपों का समुदाय है। वस्त्रा, घर, बर्तन-भांडे घर के भीतर और बाहर की अनेक जीवनोपयोगी वस्तुएं रूप, इनमें कला के द्वारा सुन्दरता भरना कला का लोकोपयोगी

पक्ष है'।⁴

उपरोक्त प्राक्कथन का कारण सिर्फ यह कि हम मूर्तिकार मुकुल पँवार के कला-संसार में प्रवेश करने का रास्ता खोज रहे हैं, और यह कि ऐसे अनेक शिल्पों से हमारा साक्षात् होगा ।

गढ़ी कला परिसर में बहैसियत चित्राकार काम करने का अवसर मुझे गढ़ी छात्रावृत्ति के दौरान मिला जो कि शंखु चौधरी के सृजनात्मक प्रबन्धन की परिगति ललित कला अकादमी का गढ़ी परिसर है। और यहाँ पर मेरा परिचय अनेक कलाकारों से हुआ। 2011 में मिली छात्रावृत्ति के दौरान बिल्डिंग के प्रथम तल में स्थित मेरा स्टूडियो जिससे मानो मेरा कोई पुराना रिश्ता हो, आस-पास स्थित अन्य स्टूडियो में कार्य करते हुए अन्य कलाकार और उनकी कलाकृतियाँ, अपने स्टूडियो से बाहर निकलते ही गढ़ी कला परिसर का बगीचा जिसमें नीम, अशोक, पीपल, चम्पा आदि के लगे हुए वृक्ष पर बैठे हुए कौवों की आवाजे व गिलहरियों का खेलना कूदना, कुत्तों का घूमना, भौंकना आदि चीजें जो कि सभी कलाकारों को अपनी कलाकृति के विषय बनाने को उत्साहित करती रहती। मैं अपने कला सृजन को विराम देकर जब कभी अन्य कलाकारों के स्टूडियो भ्रमण के लिए निकल जाती तो मूर्तिकारों के छैनी, हथौड़ों की आवाजें मेरे कानों में पड़ती और कहीं कोई चित्राकार चित्रा बनाते हुए दिखाई देता इसी बीच मेरी नजरे सपफेद बाल वाले मुकुल पँवार जो सदैव अपने मूर्तिशिल्पों को गढ़ने में व्यस्त रहते उन्हें देखा करती गम्भीर दिखने वाले इस कलाकार को देखकर हमेशा मन में उनसे बात करने व उनकी कलाकृति को देखने की इच्छा जाग्रत होती इतनी लगन से उन्हें कार्य करते देख मेरा हृदय उनके मूर्तिशिल्पों में ही रुक जाता।

“कलात्मक अभिव्यंजना के लिए तीक्ष्ण शक्ति आवश्यक है और अभिव्यंजना विस्तृत अनुभव पर निर्भर है- उस ज्ञान पर जो असफलताओं द्वारा प्राप्त किया गया था। यह ही एक सूत्रा है जो महान शिल्पियों के रहस्य को प्रदर्शित करता है”।⁵

अमूर्त तथा मूर्त कल्पना तथा यथार्थ जैसे विरोधी तत्वों को साथ लेकर अपने मूर्तिशिल्प में सौन्दर्य का सदृश रसास्वादन करने वाले मूर्तिकार मुकुल पँवार का जन्म 8 अप्रैल 1950 को नरेन्द्र नगर टिहरी गढ़वाल उत्तराखण्ड में हुआ इन्होंने अपने जीवन के आरम्भिक दिन टिहरी गढ़वाल की पहाड़ी श्रृंखलाओं में बिताये उनकी प्रारम्भिक शिक्षा गाँव में जरूर हुई किन्तु बचपन से

ही उनका रूझान कला में था। चाचा अवतार सिंह पँवार जो एक चित्राकार व मूर्तिकार थे उनके साथ लखनऊफ में रह कर तीन वर्षीय क्ले मॉडलिंग का डिप्लोमा कोर्स किया यह अपने चाचा जी को अपनी कला सृजन का प्रेरणा स्रोत मानते हैं। बचपन से ही इनका रूझान कला में था शायद पहाड़ों की गोद में निराली छटा बिखेरती प्रकृति ने उनके भीतर कलात्मक अभिरुचिया पैदा की थी।

“मुकुल पँवार मूलतः और अन्ततः मूर्तिशिल्पी है। मुकुल के शिल्पों में मानुष राग अपनी विशिष्ट गम्भीरता के साथ विविध प्रकार ग्रहण करती है—कभी परिन्दों की शकल, कभी वृष और शिव के रूप में, कभी स्त्री के अनन्य मनोभाव तो कभी मस्तकों, हेड्सड के समुच्चय—मुकुल पँवार की कलाकृतियों के ये रूपाकार हमें इसलिए भी मनुष्य की परम्परा, अतीत और इतिहास से जुड़ने को आमन्त्रित करते हैं क्योंकि कला—समय में इनकी कई छवियाँ आकृतियाँ पूर्वप्राप्त रही हैं, कई को मुकुल नये दृष्टिकोण से संशोधित करते हैं”⁶

“भारतीय कला में पशुओं के साथ—साथ पक्षियों का अंकन प्राचीन काल से बहुतायत रूप में मिलता है। कला में पक्षियों का अंकन विविध मान्यताओं के अनुरूप दिखायी पड़ता है कही इन्ही स्वतन्त्रा रूप में, कही देवता के प्रतीक रूप में कही मनोरंजन के रूप में, कही शुभ या अशुभ के प्रतीक रूप में प्रदर्शित किया गया है जो प्रागैतिहासिक कला से लेकर आज तक की कला में दृष्टिगोचर होता है”⁷

मुकुल पँवार संगमरमर के शिल्पो से समकालीन कला में प्रकृति की विभिन्न भन्न मुद्राओं को साधते रहे हैं पफूल—पत्ती, परिन्दे और उनका आवास वृक्ष—यह रूपाकार मुकुल पँवार की व्यापक संवेदनशीलता का परिचय कराते। मिट्टी में कुछ परिन्दों के खेलकूद का अमूर्तन सहजता और सरलता से गढ़ा जाता है और इस गढ़न में उनका संगमरमरी अस्तित्व आँखों के सामने किसी सपने की तरह प्रतिबिम्बित होने लगता है।

“एक शिल्प शिर्षक “परिन्दा” ;चित्रा संख्या—1द्व है। जो मार्बल माध्यम में बनाया हुआ है। अमूर्त रूप होते हुए भी यह सजीव दिखाई देता है। मानो खेल कूद के बाद थक कर बैठा हुआ अपने अन्य साथियों को देख रहा हो। सन् 1977 से गढ़ी कला परिसर नई दिल्लीद्व में काम करते हुए ही मुकुल का हस्ताक्षर शिल्प बर्ड सीरीज सामने आता है। मुकुल पँवार के यह शिल्प संगमरमर पत्थरों में पक्षियों की सिहरन कुतूहल, ममत्व निश्चलता,

प्रेम, सहयोग और सतर्कता के साथ-साथ उड़ान की अनेक सम्भावनाओं के जीवन्त आकार सहेजे है। आज के नृशंस और क्रूर होते जाते समय के जटिल यथार्थ में इन निर्दोष पक्षियों का 'पाठ' एक जागरूक और संवेदनशील रचनाकार के सरोकारों का समर्थ 'से' है पक्षी प्रेमी जानते हैं कि कबूतर विदग्ध काम भावना का प्रदर्शन अपने अन्तरंग क्षणों से करते हैं, यह शिल्प उस उत्कट काम का सौन्दर्य बहुत शालीनता से पेश करता है"।⁸

"आदि काल से ही नारी-सौन्दर्य का शाश्वत महत्व रहा है। जीवन में रागात्मकता एवं आनन्द दोनो का मूलाधार है— "नारी सौन्दर्य का स्वरूप" जैवकीय, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और धार्मिक कारणों से नारी पुरुष के लिये रूप सृष्टि और जीवन का आधार है। नारी सौन्दर्य की प्रतीक है। नारी-शरीर में रमणक रंगों का अपूर्व समन्वय रहता है। सौन्दर्य की एक विशेषता कोमलता मानी गई है। उसका सौन्दर्य दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक और अध्यात्मिक अन्तर्निहित गुणों से भी प्रतिस्फुटित होता है"।⁹

नारी सौन्दर्य व उसके खुबसूरत शरीर का अंकन प्राचीन काल से ही कलाकारों के सृजन का विषय रहा है। अधिकतर कलाकारों ने नारी को अपने सृजन का प्रिय विषय माना है। ठीक उसी प्रकार मुकुल पँवार ने भी अपने मूर्ति सृजन में नारी को विषय के रूप में चुना है। मुकुल पँवार के कला जीवन में स्त्रीया हमेशा उनकी कला सृजन की प्रेरणा रही है, मानों उन्हे सदैव कलाकृति निर्माण के लिए प्रेरित करती रहती हो।

"मुकुल पँवार द्वारा बनायी गयी कांस्य प्रतिमाओं की सीरीज में मनुष्य और खासकर स्त्री के भीतरी मनोभावों का सूक्ष्म परीक्षण कर उसे शिल्प में बरता है। इस सीरीज की स्त्रियाँ शान्त मुद्रा में बनायी गयी हैं। "लेकिन इन स्त्रियों के भीतर एक अनोखा शब्दों का संसार है, जिनकी ध्वनियाँ छनकर बाहर आ रही हैं— कभी प्रतीक्षा की पुकार की तरह, तो कभी अवसाद की कठिन उफब की तरह और कभी-कभी भीषण चीत्कार की तरह। पिफर भी संयत और शान्त इन स्त्रियों की अवस्थिति विडम्बना का ऐसा कठिन वितान रचती है जिसका अन्दाजा कई बार लगा पाना दुर्लभ होता है"।¹⁰

इस सीरीज का एक प्रमुख मूर्तिशिल्प जिसका शीर्षक "यूनान की स्त्री" ;चित्रा संख्या-2द्ध है। जिसमें पूर्व रूप से ग्रीक ;यूनानद्ध का प्रभाव देखने को मिलता है। अध्खुली आँखें, नाक होठ की ओर जाती हुई और कन्धों से पार्श्व से बाल तथा दोनों हाथों को टेबल पर रखे हुए जैसे किसी की बात सुन

रही हो। कई शिल्पों में स्त्रियों के पांवों के इर्द-गिर्द पालतू पशुओं-बिल्ली, कुत्ता आदि की उपस्थिति दिखाई देती है।

मुकुल पँवार जी को किसी माध्यम या रचना-सामग्री से दूरी बनाये रखना पसन्द नहीं। प्रयोग करते समय यह पता नहीं कि कौन-सी चीज कहाँ काम आ जाये। बहुत सारी बातें उपलब्ध रचना-सामग्री पर निर्भर करती है। वैसे कांस्य में काम करना इन्हे कई दृष्टियों से बेहतर लगता है क्योंकि इस माध्यम का जीवन-काल लम्बा होता है। उसे एक जगह से दूसरी जगह आसानी से ले जाया जा सकता है। कही भी डिसप्ले कर सकते हैं- खुले या बन्द में नष्ट होने का खतरा नहीं होता।

मुकुल जी ने लगभग सभी माध्यमों में काम किया, मिट्टी से शुरूआत की इसके पीछे इनका तर्क है कि जब आदमी सभ्य हुआ तो उसने मिट्टी को ही पहले छुआ इनके द्वारा बनाये गये टेराकोटा शिल्प हेड्स सीरीज ने आख्यानों और पौराणिक कथाओं किंबदन्तियों के माध्यम से अपना विषय चुना है।

“भारतीय मूर्तिकला का आधारभूत विषय धर्म था जो प्रायः स्थूल ऐन्द्रिकता में व्यक्त हुआ। देवी-देवताओं का अविष्कार काल्पनिक होने के कारण ऐन्द्रिकता की यह प्रवृत्ति स्वाभाविक थी। कल्पित भगवान को साकार रूप दिया गया। आदर्श भूत मानवीय आकार को आराध्य वस्तु का स्तर दिया गया। इस प्रकार निर्मित वस्तुओं की समानता थी। उनको अमर जीवन दिया गया। और आज भी वे दर्शकों के हृदय में आश्चर्य उत्पन्न करते हैं। दर्शक यह भी नहीं जान पाते कि उतनी बड़ी-बड़ी चट्टानों को कैसे काटा गया और कैसे इन निर्जीव शिलाओं में शिल्पी ने जीवन भरा”।¹¹

“मुकुल पँवार इन शिल्पों के बारे में बताते हैं- नयी हेड्स श्रृंखला का विषय मैंने देवियों के आख्यानों से चुना है। टिहरी और गढ़वाल की तरपफ एक देवी है ‘नन्दा’। उनसे जुड़ी अनेक कथाएँ हैं। इसी तरह दुर्गा देवी के कई रूप हैं। चित्रा संख्या-3,4द्ध उनमें से भी कुछ देवियों को मैंने चुना, सरस्वती, लक्ष्मी के रूप भी गढ़े हैं। यह टेराकोटा में देवियों के हेड्स पफूलों आभूषणों, कुंडलित बालों, सुन्दर आँखों और चौड़े मस्तकों वाले शिल्पों को बनाने का मकसद मेरा स्त्री के अनेक गुणों की ओर इशारा करना, उन्हें कला में अपनी तरह से सम्मान देना है”।¹²

“ मुकुल उन मूर्तिशिल्पों में से हैं जो कला के प्रति समर्पित तो हैं, लेकिन उसके लालित्य और अमूर्तन के लावण्य के प्रति प्रतिबन्ध (भी हैं, सोच

में विद्रोह ओर विप्लव से अधिक, समय की निरन्तरता का विचार लगातार है। मुकुल एक परम्परा का नैसर्गिक बदलाव है”।¹³

गढ़वाल ;उत्तराखण्ड में जन्मे मुकुल पँवार, गढ़ी कला कुटीर के प्रमुख शिल्पकारों में से एक है उत्तर प्रदेश कलाकार संघ से उन्हे 1970 में पुरस्कृत किया गया। आल इण्डिया पफाईन आर्ट्स एण्ड क्राफ्ट्स सोसायटी नई दिल्ली ने उत्कृष्ट मूर्तिशिल्प के लिए अपनी सलाना नुमाइशों में 1978, 1981 और 1990 में ईनाम दिये, साहित्य कला परिषद, दिल्ली से 1980-1981 में मूर्तिशिल्प के लिए पुरस्कार दिया गया। 1988 में ललित कला अकादमी दिल्ली की ओर से उनके मूर्तिशिल्प के लिए उन्हें नेशनल अवार्ड भी दिया गया। लखनऊ में आयोजित तीसरी और आठवीं आल इण्डिया एक्जिबिशन ऑफ आर्ट में 1982 में और 1997 में उन्हे पुरस्कार से सम्मानित किया गया मुकुल पँवार अनेक क्षेत्रीय और राष्ट्रीय-प्रदर्शनीयों में निर्णायक मण्डल के सदस्य रह चुके हैं।

“इनके शिल्प यू.पी. व दिल्ली की ललित कला अकादमी, नैशनल गैलरी ऑफ मॉडर्न आर्ट, दिल्ली, जम्मू व कश्मीर अकादमी, जयपुर म्यूजियम, नैशनल अकादमी ऑफ एग्रीकल्चर साइन्स, दिल्ली, बम्बई के ताजमहल होटल में, भारत व विदेशों में निजी संग्रहालयों में संरक्षित है”।¹⁴

शान्त प्रकृति के इस शिल्पकार की मंझोली कदकाठी में अपने कद से दो-ढाई गुना बड़ा काम करने की क्षमता है। ;कला और जिन्दगी के बीच जो कुछ सांक्षा है वह है भावनाओं ओर आनन्द वृत्त का रस संसार।

अनेक पुरस्कारों से पुरस्कृत तथा देश-विदेश की अनेक संस्थाओं द्वारा सम्मानित मुकुल पँवार में न तो ईर्ष्या का कोई कण है न घमंड की किरकिरी। शायद नहीं अनिवार्यतः वह मुकुल पँवार के भीतर की सदाशयता और सहजता ही है जो उनके शिल्पों को बहुत कोमल सरल बनाती है, यही मुकुल पँवार के शिल्पकार की उफर्जा और शक्ति भी है।

1 UnHZ xLFk l ph

1. श्री वास्तव, डॉ लक्ष्मी -कला निनाद, विभाप्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण-2010, पृष्ठ संख्या-7
2. सिंह, अरविंद कुमार -प्राचीन भारतीय मूर्तिकला एवं चित्राकला ;पाषाणकाल से गुप्तकालद्ध मध्यप्रदेश हिंदी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल प्रथम संस्करण-1994 पृष्ठ संख्या-1
3. मिश्र, डॉ. रमानाथ -भारतीय मूर्तिकला, दि मैकमिलन कंपनी आपफ इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली, बम्बई कलकत्ता प्रथम संस्करण- 1978, पृष्ठ-269

4. अग्रवाल, वासुदेव शरण –कला और संस्कृति □संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण, साहित्य भवन प्रा. लिमिटेड इलाहाबाद तृतीय संस्करण–2003, पृष्ठ संख्या–145
5. जोशी, ज्योतिष –भारतीय कला चिन्तन–तीन कला प(ति, यश पब्लिकेशन चाँद महौल्ला दिल्ली प्रथम संस्करण–2010, पृष्ठ संख्या–13–14
6. कला दीर्घा, अक्टूबर 2010, वर्ष 11, अंक 21, संवेदना और शक्ति से सम्पन्न शिल्पों के सर्जक: मुकुल पँवार ;कुमार अनुपमद्व लखनउफ से प्रकाशित पृष्ठ संख्या–69
7. कुमार, दिलीप –प्राचीन भारतीय कला में प्रकृति पूजा, स्वाति पब्लिकेशनस, दिल्ली, प्रथम संस्करण–2012 पृष्ठ संख्या–94
8. कला दीर्घा, अक्टूबर 2010, वर्ष 11, अंक 21, संवेदना और शक्ति से सम्पन्न शिल्पों के सर्जक: मुकुल पँवार ;कुमार अनुपमद्व लखनउफ से प्रकाशित, पृष्ठ संख्या–70
9. झा, डॉ. शशि –प्राग–गुप्तकालीन नारी मूर्तियों में सौन्दर्य, राध पब्लिकेशनस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण– 2004 पृष्ठ संख्या– 25
10. कला दीर्घा, अक्टूबर 2010, वर्ष 11, अंक 21, संवेदना और शक्ति से सम्पन्न शिल्पों के सर्जक: मुकुल पँवार ;कुमार अनुपमद्व लखनउफ से प्रकाशित, पृष्ठ संख्या–71
11. जोशी, ज्योतिष –भारतीय कला चिन्तन–तीन कला प(ति, यश पब्लिकेशन चाँद महौल्ला दिल्ली, प्रथम संस्करण–2010, पृष्ठ संख्या–13
12. कला दीर्घा, अक्टूबर 2010, वर्ष 11, अंक 21, संवेदना और शक्ति से सम्पन्न शिल्पों के सर्जक: मुकुल पँवार ;कुमार अनुपमद्व लखनउफ से प्रकाशित, पृष्ठ संख्या–71
13. कला दीर्घा अप्रैल 2007, वर्ष 7, अंक 14, मुकुल पँवार के मूर्तिशिल्प संसार में ;उमेश चन्द्र वर्माद्व लखनउफ से प्रकाशित पृष्ठ संख्या–34
14. साप्ताहिक ;हर रविवारद्व –10 मार्च 2007, वर्ष 3, अंक– 10, नयी दिल्ली, “मुकुल पँवार के बोलते मूर्तिशिल्प” ;वन्दना राकेशद्व पृष्ठ संख्या – 16



चित्रा संख्या-1



चित्रा संख्या-2



चित्रा संख्या-3



चित्रा संख्या-4

डॉ. राजेश कुमारी (प्रवृत्ता चित्रकला)
महाराजा सूरजमल इन्स्टीट्यूट
नई दिल्ली

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. A
Sr. 9, 2016
ISSN : 2277-419X

प्राचीन ग्रंथों एवं साहित्य में भिक्का चित्रांकन पर परा

मनुष्य द्वारा चित्र रचना का प्रारंभ उस समय हुआ था जब उसके मन में शरीर की नग्नता को ढकने तक के लिये चेतना उत्पन्न नहीं हुई थी। चित्रण के इतिहास में चित्रों के निर्माण के लिये पहला प्राप्त आधार गुफाओं की भिक्कायाँ तथा छत थी। मानव की अभिव्यक्ति के यह प्राचीनतम् उदाहरण आज भी अनेक भिक्कायों पर उपलब्ध है। अनेक गुफाओं की भिक्कायों एवं शिलाओं पर आदिम मानव की कला चेतना के दर्शन विश्व में अनेक स्थानों पर देखने को मिलते हैं। प्रागैतिहासिक काल के उपरान्त भारत में भिक्का चित्रों के उपलब्ध उदाहरणों में अजंता, बाघ, बादामी, सिंघानवासल, ऐलोरा, तंजौर और लेपाक्षी हैं।

भारतीय साहित्य में भी भिक्का चित्रण के प्रमाण प्राप्त होते हैं। 'स्कन्दपुराण' में ऐसे स्थानों का वर्णन है जहाँ भवनों का चित्रण होता था। 'वाल्मीकि रामायण' में उल्लेख है कि कैकयी का राज प्रासाद भिक्काचित्रों से सुशोभित था साथ ही भगवान राम के महल में भी भिक्का चित्र उत्कीर्ण थे।¹

लंका नगरी का मुख्य द्वार भी चित्रों से सुसज्जित था। 'महाभारत' में युधिष्ठिर की सभा का एक बड़ा रोचक वर्णन देखने को मिलता है। सभागृह की दिवारों को भाँति-भाँति के चित्रों से अलंकृत किया जाता था। इन चित्रों को देखकर दर्शकों को एक प्रकार का भ्रम उत्पन्न होता था और वह उस दृश्य को सच्चे रूप में समझने लगता था।

संस्कृत के महाकवि 'कालिदास' (प्रथम शताब्दी ई.पू.) के ग्रंथों में भी अनेक स्थानों पर चित्रकला का वर्णन है। 'मेघदूत' नामक ग्रंथ में विरहणी यक्षणी द्वारा अपने प्रवासी यज्ञ का चित्र बनाने की चर्चा की गई है। इनकी रचनाओं से स्पष्ट है कि उस समय के स्त्री पुरुषों द्वारा चित्र बनाने की प्रथा थी। देवी-देवताओं के चित्र तथा विवाह आदि पर्वों पर भिक्का चित्र अलंकरण पर पराओं का प्रचलन था। राजमहलों की भिक्कायों पर सुन्दर अलंकरण प्रयुक्त किये जाते थे।

कालिदास के 'रघुवंश महाकाव्य'² में भी ललित कला के सृजन का उल्लेख है। एक

स्थल पर भित्ति चित्रों के वर्णन में पद्भवन के चित्रण का उल्लेख है। इस चित्र के चित्रित हाथियों को सजीव हाथी समझकर सिंहों ने अपने नाखूनों से विदीर्ण कर दिया। साथ ही अयोध्यापुरी के उजड़ने का वर्णन करते हुये वहाँ के भित्ति चित्रों का एक दृश्य प्रस्तुत करते हैं।

आचार्य 'भरतमुनि' (प्रथम शताब्दी ई.पू.) ने नाट्यशाला का स्वरूप प्रतिपादित किया था और नाट्यशालाओं को सुसज्जित करने के लिये विविध प्रकार के भित्ति चित्रों का भी उल्लेख किया है।⁴

वैदिक युग का जन-जीवन भी कला के प्रति बहुत अनुरागी था। 'ऋग्वेद' में यज्ञ शालाओं के द्वारों की चारों चौखट पर अंकित अलंकृत स्त्री आकृतियों का सौ य रूप सृजन के लिये उल्लेखित है।⁵

'अजंता' के भित्ति चित्रों में बौद्ध संबंधित विषयों का सुन्दर अंकन गुफाओं के भीतर विशाल छतों पर हुआ है।

बौद्धकालीन चित्रकला का दूसरा उत्कृष्ट उदाहरण 'बाघ गुफाओं' के भित्ति चित्र है। श्रीलंका की 'सिगिरियाँ गुफाओं' में भी अप्सराओं के सुन्दर भित्ति चित्र उत्कीर्ण हैं। 'बादामी सितनवासल' आदि गुहा मंदिरों में भी भित्ति चित्रों के उत्कृष्ट उदाहरण प्राप्त हैं।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण का 'चित्रसूत्र', नग्नजित द्वारा रचित 'चित्र लक्षण', भोज द्वारा रचित 'समरांगण सूत्रधार', सामेश्वर रचित 'मानसोल्लास', श्री कुमाररचित 'शिल्प रत्ना', यशोधरा रचित 'जय मंगला' में चित्रकला के सिद्धान्त व तकनीकी जानकारी उपलब्ध होती है।

पांचवी शताब्दी के चीनी यात्री 'फाह्यान' तथा 'ह्वेनसांग' ने अपने यात्रा वृत्तान्त में भारत के आवासों में बने भित्ति चित्रों का उल्लेख किया है।

पुराणों एवं अन्य ग्रंथों में भित्ति निर्माण प्रक्रिया का शिल्पशास्त्रीय विवेचन:

रामायण के बाद पुराणों में शिल्प और कला विषयक सामग्रियों का उल्लेख अधिकांश मिलता है। हरिवंश पुराण, मत्स्य पुराण, स्कंधपुराण, गरुड़पुराण, पदमपुराण आदि प्राचीन ग्रंथों शिल्पकला एवं चित्रकर्म पर लिखा गया है। इनके अतिरिक्त विष्णुधर्मोत्तरपुराण, समरांगण सूत्रधार, अभिलषितार्थ चिन्तामणि, शिल्परत्न, चित्रलक्षण आदि ऐसे ग्रन्थ हैं जिनमें चित्रकर्म एवं उनके निर्माण सामग्री का विधि-विधान के साथ विस्तार से उल्लेख है।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण

छठी शताब्दी में लिखित ग्रंथ के अन्तर्गत तृतीय खण्ड के 35वें अध्याय से लेकर 43 वे अध्याय पर्यन्त 'चित्रसूत्रम्' नामक प्रकरण में चित्रकला को सर्वश्रेष्ठ माना है। स पूर्ण चित्रसूत्र के नौ अध्यायों में चित्र के आयाम सामान्य विषय, प्रमाण, आकृति के लक्षण, रंग, रेखा, रूप, भाव, चित्र में दोष तथा चित्रों की विभिन्न सामग्री। भिन्ना के लेप पद्धति उसकी प्रयोग विधि आदि के विषय पर पर्याप्त चर्चा की गई है।

भिन्ना निर्माण एवं सामग्री में तीन प्रकार के ईंटों के चूर्ण को तीन भाग में रखकर मिट्टी का तीसरा अंश अर्थात् 1/3 में मिलाकर गगल, मधुच्छिष्ट (मोम) मधुप (मधु) मुदग (मुंग) गुड और कुसु भ (केसर) को तेल में मिलाकर बराबर भाग कर ले। आग में जले सुधा (हरें) का 1/3 भाग उसमें मिलाना चाहिये। चतुर कलाकार बल की बनी हुई औषधि का दो भाग मिलाकर मषक और कष डालकर तब बालू का अंश उसी के अनुसार मिलाये। अब जल में डूबे हुये स्निग्ध पदार्थ से उसे सराबोर करे। इस सारे आर्द्र पदार्थ को एक माह तक सुरक्षित रखे। एक महिने में गीलापन चले जाने पर चतुर कलाकार को सोच समझकर यत्नपूर्वक सूखे लेप को दीवार पर लगाना चाहिये। यह भली-भाँति विभाजित हो, समतल हो, ऊँची नीची न हो और न अधिक मोटी व न अधिक पतली। जब दीवार सूख जाये और उसका लेप भला प्रतीत न हो तो शाल वृक्ष के रस तथा तेल मिश्रित मिट्टी से चिकने मंजन वाले लेपों से यत्नपूर्वक चिकना करना चाहिये। बार-बार दूध से सिक्त तथा मार्जन द्वारा शीघ्र सूखी हुई दीवार को सौ वर्ष तक नष्ट नहीं होना चाहिये। इसी प्रकार दो प्रकार के रंगों वाले लेपों से युक्त अनेक मणिमय भूमि चित्र की आकृति के अनुसार कल्पित करे। पूर्व में मुख करके इष्ट देव का ध्यान करते हुये चित्र बनाना प्रारंभ करे। उजली, गहरे पीले रंग की काली तूलिकाओं से क्रमशः पूर्वाक्त एवं स्थान के अनुसार चित्र लिखे और अनुकूल रंगों से रंग भर दे। अर्थात् जिस स्थान पर जैसा रंग उपयुक्त हो वैसा रंग उसमें भरना चाहिये और वैसी ही उसकी छवि अंकित करनी चाहिये। श्यामा (हरा) गौरी (सफेद) प्रदर्शित करना चाहिये।

समरांगण सूत्रधार

भारतीय कलाओं को प्रतिपादित करने वाला एक अनन्य ग्रंथ है जिसमें चित्रकला को सर्वजन प्रिय ही नहीं माना गया, अपितु अन्य कलाओं से सर्वश्रेष्ठ घोषित किया गया है। यह ग्रंथ अध्यायों में विभक्त है तथा इसका चित्रकर्म विद्वतापूर्वक लिखा गया है चित्रोद्देश्य, भूमिवंधन, लैप्यकर्म, अण्डक प्रमाण मनोत्पात्ता और रस दृष्टिलक्षण। इसके लैप्यकर्म और दृष्टिलक्षण नामक अध्याय चित्रकला के लक्षण ग्रंथों की परंपरा में उत्कृष्ट सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

समरांगण सूत्रधार में वास्तु एवं चित्रों का संबंध तथा दोनों की भिन्नता प्रदर्शित की

है। इसमें भवनों में चित्र संबंधी योजना योज्य पर वृत्त वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया है यानि सभी गोपुर तथा विमान मनोहर तथा विचित्र चित्र संयोजन से परिपूर्ण होने चाहिये। कुडय भूमि बंधन हेतु स्तुही वास्तुक कुष्माण्ड कुधाली वस्तुओं को इकट्ठा करे। अपामार्ग अथवा गन्ने के रस से अथवा दूध में उसको सात रात तक रखे। शिंशया सन और कुटज का कषाय क्षार मुक्त सामुद्रिक नाम द्रवों से पहले कुडम (भिक्का) को एक सार बनाकर सीचें। दुबारा स्थूल पत्थर वर्जित चिकनी मिट्टी लाकर दुगना न्यास करके बालु का मृदा (बालकामयी मिट्टी) का शोधन करना चाहिये, फिर कुकुम मास (उदड) शाल्मली श्रीफल आदि का रस कालानुसार देना चाहिये। प्राचीन समय में जिस प्रकार भूमि बंधन बताया गया है उसी प्रकार का सब बालू से एकत्र करके पहले हाथी की मोटाई के बराबर दीवार की लिपाई करे। पुनः इसे दर्पण सदृश्य चिकना एवं स्फटित करे। विशुद्ध, विमलस्निग्ध, पाडुर, मृदुल स्फुट, प्रथम प्रतिपादन कर कट-शर्करा (भुरभुरी मिट्टी) को विधिपूर्वक कूटकर घिस कर कल्क बनाकर पूर्वावत प्रकार से भाग का लेपन और निर्यास करना चाहिये। अथवा उसे कट शर्करा के साध देना चाहिये। इस प्रकार विचक्षण लागे कुडयं का लेपन करते हैं। हल से हस्त मात्र लेपन कर शर्करा देनी चाहिये। इस विधि से कुडयं बंधन उक्ताम स पत्र होता है।

अभिलषितार्थ चिन्तामणि (मानसोल्लास)

चालुक्य राजा विक्रमादित्य के पुत्र सोमेश्वर ने 1131 ई. में अभिलषितार्थ चिन्तामणि नामक एक विश्वकोष के रूप में ग्रंथ की रचना की जिसका नाम मानसोल्लास भी है। इसके तीसरी विशंती के प्रथम अध्याय में चित्रकला संबंधी सिद्धान्तों का समावेश किया गया है। जिसमें वज्रलेप, कूचदी लेप्यकर्म और नाना प्रकार के वर्णों को बनाने की विधि बताई गई है। यही नहीं चित्रों के प्रमाण के लिये भी मानसोल्लास में अनेक तरीके बताये गये हैं। चित्रों के चार प्रकार माने गये हैं- रस चित्र, विद्ध चित्र, अविद्ध चित्र और धूलि चित्र। विद्ध चित्र यानि शबीह जो दर्पण पर पड़े बिंब के समान आकृति या प्रतिरूप हो। अविद्ध चित्र जो भावना या कल्पना के आधार पर बनाया गया हो। रस चित्र पर दृष्टि पड़ते ही शृंगार आदि नव रसों में से किसी एक रस का भी अनुभव हो। धूलि चित्र में चौक पूरना, अल्पना रंगोली आदि के चित्र आते हैं जो रंगों के चूर्ण के लेप से धरती पर बनाये जाते हो।

मानसोल्लास में नाट्य मंडप की सज्जा में भिक्कालेप्यकर्म की प्रक्रिया का वर्णन नि नलिखित है

सफेद से लेप की हुई खड्डों से रहित न सम बनी भिक्का पर लेप चढाये। सफेद

मिट्टी लाकर वज्रलेप के साथ मिलाये और उसके पश्चात् उस मिट्टी को सूखी भीष्मिका पर तीन बार लेप करे। जब वह भीष्मिका सलक्षण नहीं हो जाये तब तक वज्रलेप से युक्त किया हुआ सफेद शंखचूर्ण भीष्मिका पर लगाये। नीलगिरी पर उत्पन्न हुई नग नाम की शीला में मिलने वाले श्वेत चंद्रमा के समान धातु लाकर वज्रलेप के साथ मिलाये और हाथ से उस लेप को सफाई से स्वच्छ ढंग से धीरे-धीरे लेप करें।

शिल्परत्न

इस ग्रंथ में वास्तुकला एवं चित्रकला के सिद्धान्तों की चर्चा की गई है। चित्रों हेतु भीष्मिकाओं के लेप्य कर्म, वर्ग तथा विभिन्न वर्णों के मिश्रण एवं तूलिका सामग्री एवं निर्माण विधि का उल्लेख है।

कुडय चित्रों की भीष्मिका हेतु लेप्य कर्म में सुधा का प्रयोग करना चाहिये। शंख आदि को जलाकर उसका चूर्ण जो बनाया जाता है सुधा कहलाता है। एक चौथाई चूर्ण को जो बालू का कणों से युक्त होता है उसे ऋवाथ के कणों के साथ गुल के जल से सींचें। सुधा के एक चौथाई अंश को ही प्रमाण माना है। कालाग्नि से पृष्ठीके हुये केले के फल को पीस कर उसमें मिलाये। इस पिसे हुये का प्रमाण भी उस सुधा का चौथाई अंश कहा गया है। इसके बाद तीन महिने तक उसे अच्छी तरह मथ कर रख ले। ओखली में उसे डालकर पिसे गुल के साथ जल तब तक अच्छी तरह पीसना चाहिये जब तक नवनीत की तरह नहीं हो जाता। इसके बाद कुडप (भीष्मिका) को नारियल के मुलायम त्वचा से जो कि बहुत बारीक हो एकदम गीली हो, अच्छी तरह से बराबर कर ले। पुनः गुल के जल से उसे गीला करके छोड़ दे। और बाद में उसे सुधापिष्ट के ब्रुश से लेप करे। ब्रुश का आकार और विशालादि का औचित्य सभी जगह है एवं लोहे की लकड़ी की अथवा चिकनी पीत वर्ण होनी चाहिये। उस ब्रुश के पृष्ठ भाग से जो कि ऊँचा नीचा न हो। पिसी हुई सुधा को अच्छी तरह से धीरे - धीरे क्रमशः नारियल की छाज से लेप करके उसके सूख जाने पर फिर रंगों से चित्र बनाने के लिये लेप करें। पलक आदि पर तत्काल गीले धरातल पर सनिग्ध वर्णों का प्रयोग करना चाहिये। फलक आदि पर सुधा का लेप नहीं करना चाहिये।

चित्रलक्षण

इस ग्रंथ का रचना काल छठी या सातवीं शताब्दी के मध्य माना जाता है। इस ग्रंथ में विश्वकर्मा और राजा नग्नजित (भयजीत) के द्वारा बताये गये चित्रकर्म के लक्षणों का संग्रह है। ग्रंथ के तीसरे अध्याय में चित्रकला के नियमों पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। जिसमें विभिन्न आकृतियों के अनुपात के विषयों का उल्लेख किया गया है। तथा भाव प्रधान चित्रों को विशेष स्थान दिया गया है।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रंथ जिनमें 'सुरसुन्दरी', 'तरंगवती', 'वर्णसुन्दरी', 'त्रिष्टिशला का पुरुष चरित्रम्', 'कथासरितसागर', 'वृहतकथा मंजरी' आदि हैं। इन ग्रंथों में इस युग की चित्रकला पर प्रकाश डाला गया है जिसमें राजाओं के महलों की भित्तियों पर सुन्दर चित्रकारी का उल्लेख है।

उपरोक्त ग्रंथों के आधार पर यह कह सकते हैं कि चित्रकला का भारतीय समाज में व्यापक रूप से प्रचलन था। इसका उद्देश्य केवल बौद्धिक विकास एवं मनोरंजन का साधन मात्र न था बल्कि कला व्यवहारिक जीवन के लिये आदर्श रूप थी। और पारमार्थिक दृष्टि से श्रेय प्राप्ति का साधन, धार्मिक दृष्टि से उसके मागल्य का सूचक समझा जाता या और लोक हित के विचार से शिवमयी आराधना। इस दृष्टि से कला में सत्यं शिवं, सुन्दरम् के दर्शन होते हैं।

संदर्भ ग्रन्थ

1. रमाशंकर भट्टाचार्य, स्कन्दपुराण में वर्णित कतिपय कलों, स मेलन पत्रिका

डॉ. अन्नपूर्णा शुक्ला (शोध निर्देशिका)
शशिना पारीक (शोधार्थी)
चित्रकला विभाग
वनस्थली विधापीठ, राज.

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. A
Sr. 9, 2016
ISSN : 2277-419X

विविध काव्यात्मक विषयों पर 'कलाश्री कान्तिचन्द्र भारद्वाज' का काव्यात्मक चित्रण

स्मृतिर्व्यतीतविषयामतरागाभिगोचरा ।

बुद्धिस्तातकालिकी प्रोक्ता प्रज्ञा त्रैकालिकी मता ।

प्रज्ञां नवनवोन्मेष शालिनी प्रतिभां विदुः ॥

प्रतिभा में स्मृति, बुद्धि और प्रज्ञा की क्षमताएँ समाहित होती हैं। अतः वह अतीत, वर्तमान और अनागत के विषयों का साक्षात्कार और सम्मूर्तन करने में समर्थ है। प्रतिभा एक नवनिर्माणकारिणी सृजनात्मक क्षमता है। इसीलिए अभिनवगुप्त ने इसे अपूर्ण वस्तुओं के निर्माण में सक्षम कहा है—

‘प्रतिभा अपूर्णवस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा’ ।¹

इसी प्रतिभा के द्वारा कलाओं में विविधता देखने को मिलती है। “विविधता सृष्टि की शोभा है। विविधता को बनाये रखकर जो एक दूसरे को निकट लाने, आपस में मिलाने का काम करता है, वह अपने जीवन को सार्थक करता है।”² कलाएँ इसका सबसे अच्छा उदाहरण हैं, जो एक दूसरे को आपस में जोड़ती हैं, चाहे उसका सम्बन्ध किसी भी काल या देश से हो।

‘किसी भी देश की कला वहाँ के लोगों के मनोविज्ञान की प्रतिछाया होती है। उस कला की गुणवत्ता का स्तर उसकी राजनैतिक शक्ति की समृद्धि और दरिद्र्य, दोनों का प्रतिबिम्ब होती है और उस कला के मूल्यांकन का स्तर उस देश के लोगों की बौद्धिकता और सौन्दर्यबोध के विकास का एक संकेत होता है।’³ प्रत्येक कलाएँ अपने अपने देश का प्रतिनिधित्व करती हैं। जिससे वहाँ की संस्कृति का प्रभाव प्रत्येक मानव के व्यक्तित्व से जुड़ा होता है।

“देश और काल की परिस्थितियों ने आज के मानव को अपने व्यक्तित्व और अस्तित्व के प्रति अधिक जागरूक बना दिया है। ऐसी स्थिति में आज के मनुष्य का जन्म तब हुआ जब वह अपने देश और काल के प्रति अत्यधिक संवेदनशील, विचारशील, तार्किक, वैज्ञानिक एवं बौद्धिक विवेक से सजग हो उठा। इस सजगता

के परिणामस्वरूप आधुनिक भारत के नवीन सांस्कृतिक एवं राजनीतिक बोध ने आज के मानव को भीतर से झकझोर डाला। संयोगवश इसी दौर में पूर्व और पश्चिम की विचार परम्पराओं, जीवन जीने आदि के मूल्यों को लेकर जो संघर्ष हुआ उससे एक नई चेतना की आग पैदा हुई उसने भारतीय साहित्यकारों को अपने साहित्य में तत्कालीन राजनीति एवं सांस्कृतिक नवजागरण को अभिव्यक्त करने का अवसर दिया।⁴ जिसकी अभिव्यक्ति काव्य या साहित्य के रूप में कलाओं में उभरी जिसे काव्यकला से अभिहित किया, जिसके अन्तर्गत काव्य कलाकार की अभिव्यक्ति के साथ-साथ उनके क्रियाशील जीवन को जानने का भी अवसर प्राप्त होता है।

“कालात् क्रिया विभज्यन्ते आकाशात्सर्व भूतयः

भर्तृहरि के इस कथन के अनुसार क्रियाशील जीवन का आधार काल एवं सिद्ध वस्तु का आश्रय-स्थान होता है। इसी को हम व्यक्तित्व विकास में कालकृत एवं स्थानकृत उपलब्धि कह सकते हैं।⁵ व्यक्तित्व में ही कलाकार की कला छुपी होती है, उसी से ही उसकी कला की पहचान होती है, जो उभरकर काव्यकला के रूप में अभिव्यक्त होती है।

“कलाकार और कवि एक सामान्य प्राणी होता है और संसार में रहते हुए अपनी बाल्यावस्था से ही जाने-अनजाने अनेक वस्तुओं को देखता है, भोगता है और अनुभव करता है, उसे केवल वे ही बातें याद रहती हैं, जो चेतन मस्तिष्क में रहती हैं और शेष, जो अचेतन और अर्धचेतन मस्तिष्क में रहती हैं, विस्मृत सी हो जाती है। वस्तुतः जानना और समझना, दोनों में अन्तर है। परिचय तो हमारा अनगिनत वस्तुओं से होता है, पर बिम्ब हम केवल कुछ का ही ग्रहण कर पाते हैं। व्यक्ति बाह्यजगत का जो प्रभाव ग्रहण करता है, उसका कुछ ही अंश चेतन मस्तिष्क में रहता है। अधिकांश अर्धचेतन और अचेतन भाग में चला जाता है।

कवि जब काव्य रचना में प्रवृत्त होता है, तो अर्धचेतन और अचेतन मस्तिष्क में सुप्त भाव एवं संस्कार चेतनावस्था के भावों से मिलकर कल्पना, अनुभूति और चिन्तन मनन के सहयोग से अभिव्यक्ति प्राप्त करते हैं। कवि की भावना, कल्पना, बुद्धि और पुर्वानुभूत जीवनानुभव उसके व्यक्तित्व में ऐसे घुलमिल जाते हैं कि कवि के अन्तर्जगत् का अंश हो जाते हैं।⁶ और एक नयी छवी को प्रकट करते हैं, जिसमें जीवन के सभी दृष्टिकोण समाहित होते हैं। “काव्य का विविध विद्वानों ने विविध दृष्टियों से विवेचन किया है।⁷ और अपने-अपने दृष्टिकोण के साथ उसने नये-नये पहलुओं को परिमार्जित किया है।

“कोमल-कल्पनामय संसार का सृष्टा सहृदय कवि जहाँ अपने उदात्त हृदय की समस्त सुकुमारता एवं भावना की अभिव्यक्ति के साथ-साथ विवेकशील प्रत्यक्ष दृष्टा

के रूप में सांसारिक कटु यथार्थ को अपने काव्य में अंकित करता है, वहीं उसका व्यक्तित्व इस सुकुमारता एवं कटुयथार्थ को कठोरता से समन्वित स्पष्ट प्रतिबिम्बित होने लगता है। कवि का विविधवर्णी व्यक्तित्व भी उनकी काव्य-कृतियों में मानवीय उदात्त अनेक गुणों के समवाय से अभिमण्डित दृष्टिगत होता है।⁸ कवि की कल्पना या अभिव्यक्ति उनके काव्यात्मक विषयों पर प्रभाव डालती है, जिससे उसकी रचना या कृति को अलग पहचान मिलती है।

“किसी कृतिकार के आन्तरिक व्यक्तित्व को जानने का यदि कोई विशेष उपयोगी माध्यम है तो वह है कवि का अपना ही रचना-संसार। उनकी कृतियाँ ही मानो दर्पण हैं जिनमें कवि का अन्तस् प्रतिबिम्बित होता है। एक और जहाँ किसी कृति में युग-सत्य झाँकता है वहाँ दूसरी ओर कवि का अपना व्यक्र-सत्य भी उसमें निहित होता है। वास्तव में किसी कृति में जो कुछ भी है, वह कवि के अन्तर्जगत् से गुजरता हुआ काव्य रूप में उतरा है इसलिए उसमें उसके निजत्व की छाप अवश्य रहती है।”⁹ इसके प्रभाव से उनकी कार्य-क्षमता को और अधिक बढ़ावा मिलता है और वह नयी-नयी कृतियों का निर्माण करता है। क्योंकि वह उसके अन्तस् के काव्य की रंगों और रेखाओं के माध्यम से काव्यात्मक अभिव्यक्ति होती है।

“राजस्थान के वयोवृद्ध चित्रकार ‘श्री कान्तिचद्र भारद्वाज’ ऐसे चित्रकार हैं, जिन्होंने विविध विषयों पर चित्रांकन करने के तहत हाडौती की परंपरागत कला व अजन्ता चित्रण से प्रभावित अपनी चित्रण शैली को सदैव गतिशील बनाये रखा है। अपनी दीर्घ कला यात्रा के तहत ‘श्री कान्तिचद्र भारद्वाज’ ने विविध विषयों का चित्रांकन कर अपनी शैलीगत पहचान बनाने का प्रयास किया हैं। जल रंग के साथ-साथ उन्होंने तेल रंग तकनीक में भी सृजन कार्य किया है। माध्यम की विविधता के तहत उन्होंने काष्ठ फलक, कागज, सिल्क व भित्ति पर परम्परागत व लोक रंगों की नवीन प्रस्तुतियाँ प्रदर्शित की है।”¹⁰

‘श्री भारद्वाज’ ने संस्कृत काव्य, हिन्दी व डिंगल के अलावा दीपावली, सरस्वती, बुद्ध, भित्ति चित्रण, माण्डना, हाथी चित्रण, संगीत, रस, राग-रागनी, होली आदि विविध विषयों को अपने काव्य का विषय चुना एवं सभी में अपनी मौलिकता को प्रदर्शित किया, उन चित्रों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि कलाकार ने काव्य की आत्मा को फलक पर दृश्यमान कर दिया है। उनके द्वारा तैयार की गई ‘सवाईमाधोपुर’ के माण्डनों की कलाकृतियों पर वे कहते हैं कि “चाहे कोई त्यौहार हो या उत्सव, शादी विवाह हो या अन्य कोई मांगलिक कार्य माण्डनें माण्डना शुभ माना जाता है। ग्रामीण अंचल में महिलाएँ दीपावली पर घरों की लिपाई-पुताई कर उन्हें माण्डनों से सजाती है। यह एक ऐसी कला है, जिसे वे बिना सिखाए ही एक दूसरे को देखकर

सीख जाती हैं।¹¹ माण्डना कला में भी वे सिद्धहस्त हैं उनकी कार्य-प्रणाली विविध क्षेत्रों से गुजरती हुई अनेक कलाओं एवं माध्यमों के रूप में उभरकर जन-जन के हृदय में स्थापित हुयी है।

“श्री भारद्वाज’ का विशेष कार्य क्षेत्र कोटा रहा है। वे बूंदी की धरती को देवकी और कोटा की धरती को यशोदा समझते हैं। कोटा के ‘श्री चोयल’ साहब से कला की विशेष शिक्षा ली और कोटा के साहित्यकार बन्धुओं को अपनी उन्नति का श्रेय देते हैं।¹² ‘श्री भारद्वाज’ ने धार्मिक चित्रण भी किया है जिसमें उनके दीपावली, सरस्वती, बुद्ध आदि से सम्बन्धित अंकन हैं, सरस्वती चित्रण में सरस्वती का शास्त्रोक्त आधार लेकर 3/6 फुट के हार्डबोर्ड पर लगभग एक ही रंग में नीले, क्रिमसन लेक, सफेद रंग सं अब तक 100 चित्र बना चुके हैं जो विभिन्न विद्यालयों, महाविद्यालयों आदि जगह सुशोभित हो रहे हैं।

“श्री भारद्वाज’ की सबसे बड़ी विशेषता उनकी दृढ़ निष्ठा और परम्परागत कला के प्रति आस्था है। यद्यपि उन्होंने नवीन और प्राचीन दोनों विधाओं में तूलिका चलाई है, तथापि उनका रुझान परम्परागत चित्रकला की ओर रहा।¹³ उन्होंने लघु चित्रों व भित्ति चित्रों में अन्य चित्र शैलियों की अपेक्षा बूंदी चित्रशैली के अन्तर्गत हाथी व घोड़ी का चित्रण प्रमुखता से किया, तीज की सवारी वाले पेनल में 16 हाथी चित्रित हैं, एक चित्र में हाथी अपने दुश्मनों को कुचल रहा है और कई लोग इसके पेरों तले मारे जा रहे हैं। साथ ही तीज, गणगौर की सवारी, युद्ध व विवाह के दृश्यों के चित्रांकन में हाथियों का प्रमुखता से चित्रण हुआ है।

‘श्री भारद्वाज’ के चित्रों में रंगों की मोहक छटा दिखाई देती है। मन रंगों की बानगियों में खोकर रंगों की भाषा समझने और बोलने का साहस कर बैठता है। रंगों में रंग रस और सुगन्ध रस के त्यौहार के तेवर लिये मुखरित होते हैं। ‘श्री भारद्वाज’ के होली के चित्रों में दरबारी राजा चित्रित किये गये हैं, जालीदार सुन्दर झरोखें और राजप्रसादों, भवनों की विशाल छतों से रंग भरी पिचकारियां भरती हुई अनेकों युवतियाँ दर्शायी गयी है। इन युवा नायिकाओं का चित्रण चित्रकला की दृष्टि से बड़ा भावपूर्ण और मार्मिक है। रसिकों की आँखें इन युवतियों की आँखों और चेहरों पर मँडराती, रूप माधुरी को पान करने हेतु उत्सुक चित्रित की गयी है।

चित्रकार ‘श्री भारद्वाज’ ने प्रत्येक विषय को भाववाही और कौतूहल पूर्ण बना दिया है। ‘श्री भारद्वाज’ ने हाड़ा रानी, हम्मीर हठ, पन्ना धाय, पद्मिनी जोहर के अतिरिक्त कामायनी, कुमारसंभव के विभिन्न प्रसंगों को भी काव्यात्मक ढंग से उकेरा है। इसके अतिरिक्त रागमाला, षडऋतु, ऋतुसंहार, श्रीनाथ जी, गणेशजी, के भी कई चित्र बनाये हैं। व सम्पूर्ण भागवत, कृष्ण लीलाओं का चित्रांकन भी किया।

‘श्री भारद्वाज’ कहते हैं, चित्रकार को रंगों एवं तूलिका की गरिमा एवं विषय की गूढता को बनाए रखने में कभी कोई समझौता नहीं करना चाहिए और ना ही अपनी साधना के पक्ष को छोड़ना चाहिए। उम्र के कितने ही पड़ाव चढ़ चुके ‘श्री भारद्वाज’ की कला में आज भी वही स्फूर्ति और ताजगी दिखाई देती है, आखों से धुंधला व कानों से भले ही कम सुनाई दे परन्तु सामने वाले की बात को तुरन्त समझकर अपनी अभिव्यक्ति प्रस्तुत करने में वे पीछे नहीं रहते, कला साधना में आज भी निरंतर जुटे रहना जैसे उनकी कार्य-प्रणाली ही बन गयी है। कला साधना में रत ‘श्री भारद्वाज’ कला रसज्ञों के प्रिय व मार्गदर्शी भी है।

उनके विविध विषयों पर उनके व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब अवश्य पड़ता है, कला कोई भी हो कलाकार की अभिव्यक्ति से अछूती नहीं, कलाकार अभिव्यक्ति करता है और कला खुद ब खुद, रूप में उभरकर एक कृति के सोपान चढ़ती जाती है और कलाकार के अन्तस् की अभिव्यक्ति काव्यमयी हो उठती है। इसे कहा जा सकता है कि ललित कलाओं में काव्य और चित्रकला आदिकाल से समानान्तर रहे हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. वर्मा डॉ हरिश्चन्द्र. भारतीय काव्यशास्त्र, प्रकाशन हरियाणा ग्रन्थ अकादमी, पंचकुला, प्रथम संस्करण 2005 पृ.स. 43
2. जैन यशपाल. सेतु निर्माता, प्रकाशन सस्ता साहित्य मण्डल, प्रथम संस्करण 1975 पृ.स. 6
3. भारद्वाज विनोद. बृहद आधुनिक कला कोश, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2006 पृ.स. 420
4. त्रिपाठी डॉ. रामछबीला. भारतीय साहित्य, वाणी प्रकाशन नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008 पृ.स.38
5. ‘शितांशु’ पाण्डेय शशिभूषण, सिंह शिवप्रसाद. सृष्टा और सृष्टी, वाणी प्रकाशन नयी दिल्ली , प्रथम संस्करण 1995 पृ.स. 11
6. गुप्त डॉ गीता. तुलसी का काव्य सिद्धांत, प्रकाशक अनु बुक्स मेरठ, प्रथम संस्करण 1986 पृ.स. 31,32
7. सेठी डॉ दर्शनलाल. जायसी का काव्य शिल्प, प्रकाशक साहित्य सदन दहरादून, प्रथम संस्करण 1970, प्राक्कथन.
8. द्विवेदी डॉ. कैलाशनाथ, संस्कृत कवयित्रियों का व्यक्तित्व एवं कृतित्व, जनार्दन प्रकाशन लखनऊ, प्रथम संस्करण 1995, पृ.सं. 72,73
9. प्रसाद राजेन्द्र, अज्ञेय कवि और काव्य, तक्षशिला प्रकाशन दिल्ली, प्रथम संस्करण 1978, पृ.स. 11
10. इतवारी पत्रिका, 4 अगस्त, 1991 पृ.स. 9
11. राजस्थान पत्रिका, जयपुर मंगलवार, 4 नवम्बर 2003

डॉ. अन्नपूर्णा शुक्ला (शोध निर्देशिका)
अनिता शर्मा (शोधार्थी)
विजुअल आर्ट विभाग
वनस्थली विधापीठ, राज.

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. A
Sr. 9, 2016
ISSN : 2277-419X

कलाविद् राम जैसवाल के चित्रों में काव्यात्मकता

राम जैसवाल प्रदेश के उन समर्थ चित्रकारों में से हैं जिन्होंने विशिष्ट चित्रण शैली, पारदर्शीय जलरंगीय चित्रण में यथार्थ को प्रभाववादी मुद्रा में चित्रण करने एवं परम्परागत चित्रण में अपनी पहचान बनाई साथ ही 'बंगाल स्कूल वाश पद्धति' में भी चित्रण करने में राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अपनी पहचान स्थापित की है।

राम जैसवाल को इन दोनों माध्यमों के लिए मात्र 'आलोचकों' ने ही नहीं सराहा वरन् विभिन्न 'ललित कला अकादमी' ने इन्हें सम्मानित और पुरस्कृत किया है और उनके चित्र अनेक अकादमी की कलादीर्घाओं में संग्रहित किए गए हैं। प्रदेश की विभिन्न प्रतिष्ठित कलादीर्घाओं और आधुनिक राष्ट्रीय कलादीर्घा नई दिल्ली में भी उनके चित्र संग्रहित हैं राम जैसवाल के चित्रों की जब भी चर्चा हुई है, उनके चित्रों के संदर्भ में एक विशिष्ट टिप्पणी बहुधा कही गई है कि उनके 'परम्परागत बंगाल शैली' के चित्र एक काव्यात्मक मुद्रा लिए हुए हैं। इस शैली में सर्जित सामाजिक और भावना प्रधान चित्र तो काव्यात्मक हैं ही इनमें परम्परागत हिन्दू देवी देवताओं के चित्र परम्परागत उल्लेखित चित्रों का ही पुनर्प्रस्तुतीकरण नहीं है, वरन् उनकी चारित्रिक विशेषताओं की सत्य और भावना प्रधान प्रस्तुति है जो उनके चित्रण की मौलिक पहचान प्रतिष्ठित करती है।

अधिकांश भारतीय परम्परागत अथवा आधुनिक चित्रण किसी न किसी स्तर पर अपने पूर्ववर्ती चित्रण का ही शैलीगत पुनर्प्रस्तुतीकरण है, उसमें शैलीगत अलंकारिता अथवा विकृतीकरण तो है, रंगों, तूलिका संचालन, माध्यम का कलात्मक प्रयोग भी है। यहाँ तक कि समसामयिक-अमूर्त चित्रण अब आकारों से मुक्त होकर 'रंग और माध्यम' की सौंदर्यात्मक प्रस्तुती भर रह गई तो उसमें से भारतीय चित्रण की मूल पहचान 'भावनात्मक-अभिव्यक्ति होना' या कवितात्मक होने की पहचान तिरोहित हो गई।

चित्रण में 'कवितात्मक-प्रभाव' की अनिवार्यता के लिए राम जैसवाल जी का मानना है कि—“अभिव्यक्ति के सभी ललित माध्यम चाहे वे पूर्व के चित्रण में ही अथवा पश्चिम के चित्रण में अपनी अभिव्यक्ति के अनंत सृजन संसार में वही चर्चा

या आदर्श उदाहरण बन कर प्रतिष्ठित हुए हैं जिनमें आकारीय अथवा रंग सौंदर्य ने मानवीय संवेदना को कलात्मक स्तर पर व्यक्त किया है कलात्मक स्तर से यहाँ मेरा अभिप्राय अलंकारिता से चित्रण कौशल से नहीं है, वरन् जब आकारों और रंगों का प्रयोग 'संवेदनाओं को' मुखर करने के उद्देश्य से हुआ हो, यथा 'इटली' के स्वर्णयुग पुनरुत्थान काल की 'लियोनार्दोदाविंची' की कृति 'मोनालिसा' अथवा तत्कालीन मूर्तिकार 'माइकेलऐंजेजैलो' की शिल्पकृति 'पियेटा' डच चित्रकार 'रेम्ब्राट' के 'आत्मचित्र' अन्य डच चित्रकार 'विसेंट वान गॉग' का 'पेटेटो ईवर्स' या 'दुख' इन चित्रकारों का चित्रण तो संख्या में बहुत है पर संभवतः वह इसी चित्रण की अभिव्यक्त की पूर्व भूमिका है भारत में भी चित्रण की पराकाष्ठा के उदाहरणों में अजंता के भित्तिचित्र और उनके 'चित्रण कौशल के मध्य या तो 'क्षमायाचना' करती नायिका अथवा 'सर्वनाश' संदेश देता 'वृद्धदूत' अथवा 'राहुल समर्पण' विशिष्ट भावना प्रधान चित्र है।

आधुनिक भारतीय चित्रण परिप्रेक्ष्य में 'अमृता शेरगिल' के चित्र करुणा अथवा यामिनि राय के चित्र माँ और शिशु ममत्व की अप्रतिम अभिव्यक्ति है।

अतीत में पश्चिम में या पूर्व में चित्रण की विशाल श्रृंखला है जो चित्रण कौशल की आश्चर्यजनक प्रस्तुती है पर जो चित्रण जीवन को संवेदनाओं को मुखर करता हो वह केवल गिनने में, स्मृति में ठहरने योग्य कम हुए भी वही बार-बार स्मृति में किसी संवेदित क्षण सा किसी हृदय स्पर्शी आत्मनुभूति कविता सा उतर जाता है।

'कविता' क्या है अपने रचनात्मक शब्द कौशल से अलग वह अभिव्यक्ति जिसमें शब्द पारदर्शी हो जाते हैं और वे जीवन की सूक्ष्मता अनुभूतियों को व्यक्त करते हैं जहाँ 'दुख' की अभिव्यक्ति भी आनंद की अनुभूति में परिणित हो जाती है जिन चित्रों में आकार और रंग संवेदनाओं और अनुभूतियों को साकार करते हैं वे ही चित्र कवितात्मक होते हैं, उने आकार यथार्थवादी परम्परागत अथवा विकृत, महत्वपूर्ण हैं उनके माध्यम से अनुभूति विशेष का मुखर होना।

राम जैसवाल की यही मान्यता उनके चित्रण में चित्रण के उस आरंभ से ही उपस्थित रही है जब उन्होंने चित्रण-चित्रण के उद्देश्य से आरंभ किया था यह समय 1956 से प्रारंभ हुआ और निरंतर परिभाषित होता प्रस्तुतीकरण के अनेक रूप बदलता, वर्तमान तक आया है इस अभिव्यक्ति में चाहे माध्यम 'जलरंग', 'टेम्परा', बंगाल स्कूल रहा हो अथवा पारदर्शी जलरंगीय चित्रण अथवा तैलरंगीय चित्रण चित्रगत आकृतियाँ और वातावरण यथार्थवादी हो अथवा प्रतीकात्मक अलंकारिक अथवा आधुनिकोन्मुखी, उसका उद्देश्य भावना विशेष को रंगों और आकारों में लिखी कविता के रूप में प्रस्तुत करना रहा है। यही कारण है कि उनके चित्रों में एकल प्रदर्शनियों की श्रृंखलाएँ नहीं हैं, सामाजिक, राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में पुरस्कारों की संख्याएँ न बढ़ी

हो पर वे कवि हृदय दर्शकों की स्मृति में चिरस्थाई बने रहे हैं और कलासृजन के भावनात्मक जगत में अपनी पहचान के यात्रा चिन्ह प्रतिष्ठित करते आए हैं।

राम जैसवाल के जीवन को उनकी कला यात्रा से पृथक नहीं किया जा सकता जैसवाल जी की अभिव्यक्ति को यदि हम आरंभ से ही देखें तो एक तथ्य स्पष्ट होकर सामने आता है जैसवाल जी की सोच और अभिव्यक्ति चित्रात्मक और उसी के समानांतर कवितात्मक रही है। भावपूर्ण एवं संवेदनशील होकर जैसवाल जी कहते हैं—“जब से देखने या पहचानने की प्रक्रिया मन और आंखों से शुरू हुई रंग और आकार आकर्षित करते रहे हैं।” मनोविज्ञान कहता है कि बचपन के सहेजे गए बिम्ब जीवन के अनन्त काल तक सृजन प्रक्रिया के साथी होते हैं। एक सम्पन्न अतीत की संस्कृति को विरासत में संवहन करते हुए मथुरा जनपद के अंतर्गत एक छोटे से पैतृक कस्बे, उसके परिवेश, पारिवारिक संबंधों उनमें व्यवहृत्य भावनाओं को वे उत्तरोत्तर सृजन के केन्द्र में संहेजते रहे।

उत्तर प्रदेश के मथुरा जिले के छोटे से कस्बे सादाबाद के मध्यवर्गीय परिवार में 03 सितम्बर, 1935 को जैसवाल जी का जन्म हुआ, जैसवाल जी का परिवार धार्मिक वैष्णवी था और पिता पूर्वी उत्तर प्रदेश के तहसील सर्विसेज में रजिस्ट्रार—कानूनगो थे। जैसवाल जी के परिवार में एक आत्मविश्वासी धार्मिक अनुशासनिक वातावरण का प्रभाव था जिसके कारण छोटे का बड़ों के प्रति और बड़ों का छोटों के प्रति एक सौम्यशील व्यवहार रहता था। घर की स्त्रियाँ रामायण का पाठ करती थी। पुरुष घर में गीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित ‘कल्याण पत्रिका’ के विशेषांक, धर्म दर्शन की पुस्तकें पढ़ते और संख्या बैठक में संभ्रांत वरिष्ठ परिजन या परिवार के और निकट के पुरुषों के संसर्ग में धर्मदर्शन पर बहस चर्चाओं में रंग जाती। दूसरी पीढ़ी के युवक जयशंकर प्रसाद, प्रेमचन्द्र, भगवती चरण वर्मा, बच्चन इत्यादि की रचनाओं की विशिष्टताओं को ग्रहण करते हैं।

इसी परिवेश के मध्य राम जैसवाल के संस्कारित मन की दृष्टि बनी जिस की जड़ें उनके अंतस में ऐसी विद्यमान हुई कि आज तक उसी भावभूमि की मिठास उनके सर्वत्र रचना संसार में देखी जा सकती है।

जैसवाल जी के अंतर्मन में किशोरावस्था में पढ़ा और सुना मीरा का कृष्ण प्रेम, प्रसाद जी का काव्य—आँसू, मुंशी प्रेमचन्द और भगवती चरण वर्मा इत्यादि। की कथाएँ व घटनाएँ मन में सुगबुगाते रहते। जैसवाल जी की चित्रण अभिव्यक्ति में गहन रुचि थी वे चित्रात्मक मन में सुगबुगाती कविताओं को रचना चाहते थे अतः अध्ययन के द्वितीय वर्ष में ही वे प्रतिष्ठित कवि जयशंकर प्रसाद के काव्य ‘आँसू’ पर आधारित काव्यात्मक चित्र रचने लगे तत्कालीन प्रतिष्ठित कला समीक्षक एवं लखनऊ

विश्वविद्यालय के उपकुलपति पदम श्री राधाकमल मुखर्जी, जैसवाल जी के प्रशंसक और संग्राहक थे, उन्होंने इनके चित्रण के विषय में लिखा—"His works dealing with Indian myths and legends are exceedingly praise worthy revealing both his literary background and excellence of the traditional indian style, his drawing and colouring show the india delectacy and fine sense of rhythm."²

श्री जैसवाल जी की कला यात्रा 1953 ई. से आज तक बिना रुके प्रतिष्ठित रही है जिसमें कई चित्रण वैविध्य व्यक्ति चित्र, दृश्य चित्र, बंगाल स्कूल की वॉश-पद्धति में संयोजित होते रहे हैं, उनके मुखाकृति चित्र हो, जीवन अध्ययन हो, दृश्य चित्र हो या परम्परागत बंगाल शैली के चित्र हों वे मात्र चित्रण कौशल की अभिव्यक्ति नहीं है, इनमें उनके मन में रमे कवितात्मक सौंदर्य की मुद्राएँ भी रूपाकारों के साथ अंतर्निहित प्रभाव की तरह समाहित हुई हैं।

बंगाल स्कूल की वॉश पद्धति में सम्पन्न 'उनमना' विशाल आकार के इस चित्र में बसंत के आगमन की आहट से पूरे चित्र में बसंती रंग का परिवेश है, प्रस्तुत चित्र अलंकारिक सरल और रेखा प्रदान है। बसंत के परिवेश से रंगे नायिका का अनमना मन जैसे उसकी आंखों में उतर आया और अकेलेपन की अन कही उदासी उसकी समग्र मुद्रा और चित्र परिवेश में रूपायित है जैसे यह चित्र मात्र चित्र सौंदर्य की कृति नहीं है वरन रंगों और आकारों की भाषा में एक अनमने मन की कविता है। उनके काव्य मन का प्रभाव संपूर्ण चित्रों में स्वतः ही दिखाई देने लगा था इस समय का उल्लेखनीय अन्य चित्र 'अतीत स्मृतियों' जैसे मन की समग्रता को अभिव्यक्त करने की मुद्रा में चित्रित नायिका कागज दर कागज बहुत कुछ लिखने को आतुर है पर कागज उड़ रहे हैं और कुछ लिखा नहीं जा रहा है, संपूर्ण चित्र में कोमल प्रभाव है। जैसवाल के चित्रों में देवी-देवताओं के भी अनेक चित्र हैं जिनमें मात्र पारम्परिक मुद्राओं की पुर्नप्रस्तुती नहीं है वरन् उनके साथ उनके विशिष्ट प्रभवगुण भी समाहित हुए हैं, जैसवाल जी की एक और विशेषता है वे सादगी के साथ अपनी चित्र संरचना करते हैं।

इनके संपूर्ण चित्रण में अलंकारिक तत्वों का भी सरल आकर्षण है। धार्मिक विषयों के चित्रण के साथ-साथ दैनिक जीवन के विषयों पर भी तूलिका चलाई है। इसी अवधि का उनका विशाल आकार का चित्र 'विवश पिता' जो तत्कालीन सामाजिक अभिशाप जन्य समस्या दहेज को लेकर चित्रित किया गया है। यह चित्र अपनी विषयवस्तु के लिए बहुत चर्चित हुआ था। यह चित्र चित्र न होकर एक मन को छूने वाली आधुनिक काव्य रचना प्रतीत होती है।

जैसवाल जी के व्यक्ति चित्रों में भी 'रिजेम्बलैस' तो है ही व्यक्ति की एक

विशिष्ट भाव अभिव्यंजना भी इनके व्यक्ति चित्रण की पहचान है जैसवाल जी को जलरंगीय व्यक्ति चित्र चित्रित करते देखकर लखनऊ कॉलेज के प्राध्यापक श्री सुधीर रंजन खास्तगीर ने आग्रह किया स्वयं का व्यक्ति चित्र बनवाने का जैसवाल जी ने इतने कम तुलिका स्पर्शों में रंगों को सहेजा जिससे कुछ स्ट्रोक्स में ही खास्तगीर जी का भावपूर्ण चित्र उकेर दिया। जैसवाल जी के पोर्ट्रेट्स अधिकांशतः कोमल रंगों की पृष्ठभूमि से प्रकट होते हैं जो काव्य प्रस्तुति सी अनुमति करवाते हैं।

सन् 1961 में मेरठ में चित्रकला की स्नातकोत्तर शिक्षा प्रारंभ हुई और वहाँ जैसवाल जी का चयन एक शिक्षक के रूप में हुआ अनुभव और स्मृति में अंकित कृतियाँ आरंभिक परिवेश में फली-फूली जैसवाल जी ने अपने चित्रण कार्य को नवीनता के साथ सक्रिय किया और दृश्य चित्रों के संयोजन की रचना प्रक्रिया के साथ काव्य प्रभाव से दृश्य चित्र संयोजित किए, जिसमें शहीद स्मारक, गाँवों में कच्चे मकानों का समूह, बादलों से आच्छादित आकाश शिक्षण के क्षेत्र के मध्य सृजन कार्य मेरठ से अजमेर तक क्रियान्वित रहा और यह क्रम अजमेर प्रवास 1964 से आज तक इतना प्रतिष्ठित हुआ की जैसवाल जी यहाँ के चित्रण परिवेश में “जलरंगीय दृश्य चित्र अपनी विशिष्ट मुद्रा चित्रों के रूप में पहचाने जाने लगे तीसरे पहर की सुनहरी धूप, धूल, कोहरा, वर्षा, निकट से क्षितिज तक एक रूप होती पहाड़ियाँ।”

राजस्थान में ललित कला अकादमी ने उनकी लम्बी सृजन यात्रा को सम्मानित करने के लिए 1997 में ‘कलाविद्’ सम्मान से अलंकृत किया जैसवाल जी साहित्य के क्षेत्र में भी सम्मानित हुए जिसका समृद्ध प्रभाव आज भी देखा जा सकता है। उनके चित्रों के साथ-साथ लेखनी भी अनवरत चलती रही। साहित्यिक समीक्षकों ने उनकी कविताओं कहानियों के शब्द चित्र एवं मन की अनुभूति को व्याख्यायित किया।

कविताओं के संदर्भ में जैसवाल जी व्यक्तिगत प्रश्न करने पर उन्होंने कहा “मेरी कविताओं की पहचान कविताओं के संदर्भ में गीतों से शुरू हुई है क्योंकि मैंने अपने किशोरवस्था में जिन वरिष्ठ कवियों को सुना वो सभी गीताकार ही थे जैसे बच्चन, फिराक, नीरज, पारसनाथ, निराला, महादेवी वर्मा, गुप्तजी यद्यपि इनकी कविताओं में शब्द संयोजन की गेयता अतीत होने लगी किन्तु कविताओं में भावाभिव्यक्ति प्रखर हुई क्योंकि गेयता के बंधन से कविता मुक्त हो रही थी। कविताओं में भाव और संवेदना, जैसे शब्दों का चरित्र बनकर उतर रही थी।”³ यही भाव जैसवाल जी के फलक पर रचे गए रचना संसार में भी देखा गया है। जैसवाल जी के वाँश शैली में बने काव्यात्मक चित्र सहज कोमल अनुभूतियों के प्रतीक हैं, वहीं उनके तैल रंगों में रचित आधुनिक चित्र बंगाल शैली के जलरंग माध्यम से मुक्त सहज भावात्मक चित्र है।

जैसवाल जी की रचनाओं की यह विशेषता है चाहे वे रेखाचित्र हों या शब्द चित्र वे अपनी अभिव्यक्ति में उसी अभिनेता की तरह मुद्राएँ लेकर प्रस्तुत होते हैं जो दृश्य को काव्यमय भाव से डुबो देते हैं। उनके शब्द भी रंग और आकारों की तरह ही कविताओं में उतरते हैं और वे कविता को एक भाव चित्र की तरह श्रोता के समक्ष प्रस्तुत करते हैं—

“कल
छटपटाती पत्तियों के बीच से
फुफकारती हवा ने
एक फूल झपक कर
तोड़ दिया उड़ा ले गई
कुछ फड़ फड़ाती
बेहोश सी पत्तियाँ
थोड़ी दूर तक
घसिटती साथ गई हैं,
.....
अब हवा को
फूल सहज नहीं हैं।”⁴

प्रस्तुत कविता में जैसवाल जी के दृश्य चित्रकार होने की मानसिकता के साथ मन की अभिव्यक्ति विशेष भी व्यक्त हुई है। अपने समक्ष अथवा स्मृति से उतरे दृश्यों को सूक्ष्मता से आत्मसात करते हैं उसके पश्चात उसे सामाजिक अथवा व्यक्तिगत संवेदनाओं में डुबोकर एक कवितात्मक अभिव्यक्ति में अपने शब्दों में प्रस्तुत करते हैं।

यदि चित्रण में कथा सृजन में काव्यात्मक दृष्टि नहीं है तो वह रचना केवल अलंकरण अथवा डिजाइन मात्र बनकर रह जाएगी वह कलात्मक विशेषता जो रचना को जीवन प्रदान करती है वह उससे वंचित रह जाएगी इसलिए जैसवाल जी का मानना है कि चित्र व चित्र का कोई रूप चित्रित करना हो तो उसमें कवितात्मकता के तत्व अनिवार्य हैं।

वर्तमान में जैसवाल जी के कला क्षेत्र में अपना काव्यात्मक चित्र सृजन को रूपायित करते हुए अपने निवास ‘कला-लक्ष्मी सदन’ में सृजनरत हैं। उनका सृजन व्यक्तित्व सहज और सौम्य शब्द चित्र रेखा चित्र संवेदनात्मक भूमि पर अभिव्यक्त हो रहा है।

इस समग्र कथन से, मेरा एक विशिष्ट मानना है कि भले ही राम जैसवाल

डॉ. रमेशचन्द्र वर्मा (शोध निर्देशक)
चीनू कुमारी चौहान (शोध छात्रा)
चित्रकला विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. A
Sr. 9, 2016
ISSN : 2277-419X

जयपुर शैली के स्थापत्य पर मुगल प्रभाव

भारतीय कला के इतिहास में राजस्थान की कला का एक विशेष स्थान है। राजस्थान जो अपनी कला और संस्कृति के लिए विश्वभर में प्रसिद्ध है। जिसकी स्थापना चरणबद्ध तरीके से की गई है। जयपुर अपनी कला के लिए विश्व में गुलाबी नगरी के नाम से भी प्रसिद्ध जयपुर अपनी कला और स्थापत्य के साथ विश्व में गुलाबी नगरी के नाम से भी प्रसिद्ध है। जयपुर का प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थल है, आमेर। आमेर जयपुर नरेशों की प्राचीन राजधानी रही है। ऐतिहासिक दृष्टि से आमेर शैली जयपुर शैली को विरासत में मिली है।

आमेर के महाराजा सवाई जयसिंह द्वितीय ने जयपुर की स्थापना 18 नवम्बर सन् 1727 ई. में 'जयनगर' के नाम से की। जयपुर को प्राचीन समय में ढूँढाड़ प्रदेश के नाम से भी जाना जाता था और यहां विकसित कला ढूँढाड़ कला के नाम से भी प्रसिद्ध है। ढूँढाड़ प्रदेश के अन्तर्गत आमेर, जयपुर, अलवर, शेखावाटी, उणियारा, करौली आदि शैलियों का समावेश किया जाता है।¹ आमेर शैली कच्छवाह वंश के राजाओं द्वारा विकसित की गई एक उत्कृष्ट धरोहर है। 10वीं – 11वीं शताब्दी में ग्वालियर के पास नरवर में इनका वृहद् साम्राज्य स्थापित था। 11वीं शताब्दी में सोढदेव अपने पुत्र दुल्हाराय को लेकर यहां आये और धीरे-धीरे उन्होंने अपने साम्राज्य का विस्तार किया। इनके वंशजों ने दौसा, देवती, खोह आदि के बाद आमेर को अपनी राजस्थानी बनाया।² सात सौ वर्षों तक आमेर कच्छवाह वंश के राजाओं की राजधानी रही। आमेर में इन सात सौ वर्षों में कला एवं संस्कृति का बहुत विकास हुआ।

जयपुर के शासकों के मुगलों से राजनैतिक एवं पारिवारिक संबंध थे, अतः जयपुर की स्थापत्य कला एवं चित्रशैली पर मुगल शैली का प्रभाव पड़ा। 16वीं शताब्दी में अकबर की अधीनता स्वीकार करने के कारण सन् 1562 ई. में राजा भारमल की पुत्र जोधाबाई का विवाह सम्राट अकबर से किया गया।³ जिससे राजपूत घरानों के

संबंध मुगलों से घनिष्ठ हो गये। सन् 1589 से 1614 ई. तक राजा मानसिंह के समय में मुगल साम्राज्य से कच्छवाह वंश के राजाओं के संबंध और सुदृढ़ हुये। अतः कलात्मक आदान-प्रदान भी बहुत हुआ। फलस्वरूप आमेर की कला एवं संस्कृति पर मुगलों की कला का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

जयपुर की वास्तुकला अपनी सराहनीय कलात्मक भव्यता के लिए विश्व में प्रसिद्ध है। जयपुर प्रदेश का स्थापत्य वैभव यहां के राजपूतों के स्थापत्य का उत्कृष्ट उदाहरण है जिसमें दूसरे शैलियों का भी महत्वपूर्ण योगदान है। जयपुर वास्तु शिल्प की दृष्टि से अपनी विशिष्ट पहचान रखता है। जयपुर विश्व का एकमात्र ऐसा शहर है जो पूर्ण रूप से नियोजित रूप से बसाया गया है।¹⁴ गुलाबी नगर जयपुर की चौड़ी सड़कें, स्थापत्य कला से समृद्ध इमारतें, किले, महल, राजप्रासाद, छतरियां, बाग बगीचे आदि बहुत आकर्षक है।

मुगलों के साथ यहां के शासकों के सम्बन्ध स्थापित हो जाने के पश्चात् स्थ.ापत्य में मुगल पद्धति का समावेश हो गया। किलों की ढालू दीवारें, नुकीली बुर्जे, दो-तीन छेदवाले कंगूरे, दीवारों ओर द्वारों से सजावट में मुगल प्रभाव का दिखाई देता है। जयपुर के स्थापत्य पर मुगल प्रभाव अत्यधिक रूप से यहां स्थापित आमेर महल में दृष्टिगोचर होता है। इसका निर्माण प्रारम्भिक कच्छवाह नरेशों द्वारा किया गया किन्तु इसका विस्तार महान् मुगल सम्राट अकबर के सिपहसालार महाराजा मान.सिंह द्वारा किया गया¹⁵ और इसके बाद में भी कलात्मक श्रृंखलाएँ जुड़ती चली गई। इस समय में इस महल में गणेश पोल, दिवाने-ए-आम, दीवाने-ए-खास, जसमंदिर, सोहाग मंदिर, भोजनशाला आदि कक्षों का कलात्मक निर्माण हुआ। इन सभी के सजावटी कार्य में मुगल स्थापत्य शैली का प्रभाव अधिक दिखाई देता है। मुगल स्थापत्य के प्रभाव से पूर्व राजप्रासाद सादा, छोटे-छोटे कमरों वाले राजपूती स्थापत्य परम्परा के आधार पर बनाये जाते थे। वही मुगल सम्बन्धों के कारण राजभ.वनों के निर्माण में बहुत बदलाव आये। फव्वारों एवं जलाशयों से युक्त बाग-बगीचें, कुंज-निकुंजों से घिरे राजमहल, उपयोग की दृष्टि से दिवाने खास, दीवाने आम, शयन कक्ष, तोषाखाना, शस्त्रागार, भण्डार, मंदिर के साथ ही राग रंग के लिए भव्य चित्रशालाएँ बारहदरियाँ, गवाक्ष, झरोखे, रंग महल आदि के निर्माण में मुगल स्थापत्य का प्रभाव स्पष्ट रूप से पड़ा।¹⁶

आमेर के राजप्रासादों के दक्षिणी पर्वत शिखर पर निर्मित जयगढ़ एवं नाहरगढ़ के किले अपनी अनोखी स्थापत्य कला की छटा बिखेरते हुए अपने वैभव की कहानी खुद ही बंया करते हैं। जयगढ़ किले के महल, बगीचे, शस्त्रागार, तोप ढलाई, जयबाण तोप, घुमावदार विशाल बुर्जे व परकोटा और पानी के विशाल टांके के इसके स्थापत्य

में मुगल स्थापत्य का प्रभाव कही ना कही दिखाई देता है। नाहरगढ़ शिल्प एवं सौन्दर्य से परिपूर्ण महल, महलों के स्थापत्य में उनकी एकरूपता, रंगों का संयोजन तथा ऋतुओं के अनुसार इनमें हवा और रोशनी की व्यवस्था है।

जयपुर के राजाओं के मरणोपरान्त उनकी स्मृति में बनी छतरियों में गैटोर की छतरियाँ उनकी अंतिम विश्राम स्थली हैं। जयपुर के राजपरिवार की विश्राम स्थली संगमरमर के पत्थर से बनी कलात्मक छतरियों का विराट केन्द्र हैं। राजपरिवारों में यह परम्परा रही है कि दिवंगत व्यक्ति की स्मृति को चिरस्थायी बनाए रखने के लिए उनका स्मारक बनाया जायें। इन श्मशान में जिस स्थान पर दिवंगत राजाओं का दाह संस्कार किया जाता था। उस स्थान पर चबूतरा बनाकर स्तम्भों के सहारे गुम्बद बनाकर छतरीनुमा स्मारक बनाया जाता था, यही छतरियाँ आज गैटोर की छतरियों के नाम से जानी जाती है। ये छतरियाँ तत्कालीन परिवेश इतिहास व घटनाओं के साथ कलात्मक वैभव से परिपूर्ण है। ये छतरियाँ, स्थापत्य, शिल्प सौन्दर्य तथा चित्रकला का बेजोड़ संगम स्थली है।⁷ अनेक स्तम्भों पर टिके गोल गुम्बद, राजपूती महराबदार छतरियाँ और बेल बूटों से सुसज्जित स्थापत्य अत्यधिक आकर्षक है, जिन पर मुगलस्थापत्य का प्रभाव स्पष्ट रूप से झलकता है।

मुगलों के सुरक्षा सम्बन्धी स्थापत्य का प्रभाव यहां के मंदिरों के निर्माण पर भी दिखाई देता है। 16वीं शताब्दी के मंदिर स्थापत्य में हिन्दू-मस्लिम शैली की समानता दिखाई देती है। जयपुर के जगतशिरोमणि मंदिर में अंलकार तथा बाह्य ढाँचे पर मुगल स्थापत्य का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। मुगलों के प्रभाव से मंदिर आकार में बड़े तथा खुले बरामदे वाले बने हैं। नगर या गांव में जलाशय होना आवश्यक माना जाता है, जिसके फलस्वरूप आमेर के पास बने जलाशय वहां के लोगों के लिए बड़े उपयोगी रहे। इन पर मुगल प्रभाव के परिणामस्वरूप ऐसे जलाशयों में बारादरियां भी बनवा दी जाती थी जो ग्रीष्म ऋतु में सुख शयन के काम में ली जाती थी। जिसमें जयपुर व आमेर मार्ग पर बना जलमहल मुगल प्रभाव लिये है।

जयपुर के शासकों द्वारा निर्मित मानसिंह की छतरी, बैराठ के राजप्रसाद, मुगल गार्डन, बाग बगीचे, आमेर के राजप्रसाद, दिलाराम बाग, केशर क्यारी, भाऊपुरा की छतरी, मौजमाबाद के महल, वेद्यशाला, चन्द्रमहल, जयनिवास बाग, ताल केटोरा, सिसोदिया रानी का महल, हवामहल के जालियां एवं झरोखें, गलता के मंदिर, ईसरलाट, सिटी पैलेस, रामनिवास बाग, अलबर्ट हॉल एवं अनेक हवेलियों एवं मंदिरों के निर्माण में मुगल स्थापत्य शैली का प्रभाव दिखाई देता है। इन किले, महलों, हवेलियों, मंदिरों, स्मारकों आदि की कलात्मकता, नक्काशीदार मेहराब, सोने व रंगीन पत्थरों की फूलों

वाली आकृतियाँ अत्यधिक आकर्षक एवं मुगल प्रभाव लिये हुए हैं।

जयपुर शैली में विकसित कला परम्परा जयपुर में ही नहीं वरन् जयपुर के अन्य ठिकानों की कला को भी प्रभावित किया। जिससे जयपुर की कला परम्परा का विकास होता रहा और अन्य कलाओं के प्रभाव के साथ यहां की कला ने अपनी परम्परा बनाये रखी।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. नीरज जयसिंह, शर्मा भगवती लाल, राजस्थान की सांस्कृति परम्परा, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर, 2008, पृ.88
2. नीरज जयसिंह, राजस्थानी चित्रकला, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर 2009, पृ.76
3. प्रताप रीता, जयपुर की चित्रांकन परम्परा, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर, 2011, पृ.22
4. जैन हुकम चन्द्र, माली नारायण लाल, राजस्थान का इतिहास कला, संस्कृति, साहित्य, परम्परा एवं विरासत, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर, 2014, पृ.313
5. शर्मा अश्विनी कुमार, शर्मा सुनीता, जयपुर शैली के तिथियुक्त चित्र, एसोसिएट पब्लिकशिंग हाउस आगरा, 2009, पृ.33
6. शर्मा गोपीनाथ, राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर 2012
7. व्यास राजेश कुमार, सांस्कृतिक पर्यटन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2011, पृ. 15
8. माथुर कमलेश, सैलानियों का स्वर्ग राजस्थान, जैना पब्लिशर्स जयपुर, 2004।
9. गोस्वामी प्रेमचन्द्र, देवड़ा शशि अरोड़ा, राजस्थान संस्कृति, कला एवं साहित्य राजस्थान हिन्द ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2013
10. दूबे दीनानाथ, भारत के दुर्ग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार दिल्ली, 1993

प्रेरणा चौधरी (शोध छात्रा)
मेवाड़ यूनिवर्सिटी, गंगार
चित्तौड़गढ़ (राज.)

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. A
Sr. 9, 2016
ISSN : 2277-419X

कला में वैदिक अभिप्राय

मनुष्य अपने को व्यक्त करना चाहता है, यह उसकी जन्मजात प्रवृत्ति है अपने को व्यक्त करने के लिए भी साधन की आवश्यकता हुई। धीरे-धीरे मनुष्य इस बात की चेष्टा करने लगा कि कल्पना की, इशारों से पहले उसने अपने को व्यक्त किया तथा सफलता मिली तो उसको लोगों ने याद करना और अनुकरण करना आरम्भ किया। प्रत्येक इच्छा इशारो से प्रकट की जाने लगी। इशारो का एक विज्ञान बन गया, भाषा बन गई इस प्रकार, अपने को व्यक्त करने की चेष्टा में मनुष्य ने अनेको कलाओं का निर्माण किया।'

वैदिक अभिप्राय— भारतीय कला एवं धर्म में वैदिक अभिप्रायों का प्रभू मात्रा में उपयोग किया गया है। पाश्चात्य कालीन चित्रकारों एवं मूर्तिकारों ने एक और वैदिक अभिप्रायों का प्रयोग अपनी कला साधना में खुलकर किया तथा दूसरी ओर अनक नये अलंकरणों का विकास हुआ। वैदिक प्रतीक संस्कृति के विभिन्न पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनमें कुछ पशु-पक्षी जगत कुछ वनस्पति जगत तथा कुछ देव समूह से सम्बन्धित है इनके अतिरिक्त दर्जनो ऐसे अभिप्राय हैं जिनका सम्बन्ध विविध प्रकार के विषयों और वस्तुओं से है। हंस, स्येन, क्षिशीर्ष वृषभ, गिद्ध, नन्दी, अनन्त (हजार सिरों वाला शेषनाग), वृषभ धेनू (गाय बैल का जोड़ा), वराह, महिष, ऐरावत (इन्द्र का श्वेत हाथी) आदि पशु एवं पक्षी जगत से सम्बन्धित प्रतीक हैं। पद्य, कल्पवृक्ष, कल्पलता, पुण्डरीक (पंकज) आदि वनस्पति जगह से सम्बन्धित प्रतीक हैं। देव समूह से सम्बन्ध प्रतीको में श्रीलक्ष्मी, रुद्रग महादेव, यम यक्ष, नाग, सूर्य, चन्द्र, वामन-विराह, त्रिविक्रम विष्णु, अर्द्धनशिवर गणपति, अम्बिका, पशुपति, सप्तमातर, मातृका, हिरण्यगर्भ, नारायण, दक्ष, असुर, राक्षस, सप्तर्षि, अष्टमूर्ति शिव, गन्धर्व, अप्सरा, रुद्र, आदित्य आदि उल्लेखनीय हैं। विविध विषयों से सम्बन्धित अभिप्रायों में पूर्ण कलश, त्रिशूल वज्र, मण्डल (कुण्डल कर्णाभरण) चक्र, यूप, स्तम्भ, वेदिका सप्तरत्न (चक्रवर्ती के सात रत्नो से तुलनीय), देवज मणि (अथर्ववेद में उल्लेखित मालिंग रत्न), धर्म (दूध औएने का बड़ा घड़ा), भुजिष्पपात्र (भिक्षा-पात्र), चतुर्चमस (तुलनीय बुद्ध को लोक पालों द्व

ारा दिये गये चार पात्र), मिथुन (चर नारीमय अलंकरण) द्यावा-पृथिवी (उत्तान चमू) विश्व के माता-पिता सलिलम (आपः समुद्रम), विमान (देवग्रह), वावरशना (दिगम्बरता), महानग्नी (काली)² आदि का उल्लेख किया जा सकता है।

वैदिक अभिप्रायों की उपर्युक्त संक्षिप्त सूची स्थूलतः इस तथ्य को उजागर करती है कि भारतीय कला में वैदिक अभिप्रायों का बाहुल्य है। उल्लेखनीय है कि विभिन्न सम्प्रदायों से सम्बन्धित कला के विकास में कलाकार ने वैदिक धर्म के लिए गये अलंकरणों का उपयोग खुलकर किया है। बौद्ध एवं जैन धर्मों से सम्बन्धित कला में अनेक ऐसे अलंकरण प्रयुक्त हुए हैं जिनका सम्बन्ध वैदिक धर्म से है। उदाहरणार्थ श्री लक्ष्मी अभिप्राय का प्रयोग सभी सम्प्रदायों से सम्बन्धित कला में देखा जा सकता है।

पदम— पदम को भारतीय कला में ही नहीं वरन् धर्म दर्शन में श्री महत्वपूर्ण प्रतीक के रूप में जाना जाता है। कमल का उल्लेख ऋग्वेद गोपथ ब्राह्मण शापथ जटित्य में प्राप्त होने वाले अन्य भी कमल पुष्कर, पुण्डरीक, पदक, सहस्तपत्र, उत्पल, शतपत्र आदि नामों की गणना की जाती है। भारतीय कला में प्रायः मौर्य युग से लेकर निरन्तर कमल का विविध रूपों में अंकन किया गया है। वैदिक परम्परा में जो सथान तिरण्यगर्ध का या वही सम्भवतः भागवत् दर्शन में कमल का है। कमल जल राशि में ऊपर तैरते हुए प्राण या जीवन का प्रतीक है। सूर्य उदय के समय कमल अपनी पंखुडिया खोलता है विष्णु की नाभि के कमल पर ब्रह्मा का विकास हुआ जो सृष्टिकर्ता है।³ पद्म लक्ष्मी का आसन एवं लीला-पुष्प है। बिना पद्म के लक्ष्मी की परिकल्पना तथा संभव नहीं। लक्ष्मी को इसलिए पद्मिनी, पद्मवर्णा, पद्महस्ता, पद्मप्रिया, पद्मेष्टिता, पद्मस्थिरता, पद्मानना, पद्मउरु, पद्माश्री, पद्म सम्भवा आदि विभिन्न नामों से अभिलिखित किया गया है। लक्ष्मी वैभव सम्पदा की प्रतीक है। जो वैभव एवं सम्पदा के होते हुए भी इससे अनाशक्त एवं विकृत रहने का उपदेश देता है। इस प्रकार पद्म मासना लक्ष्मी भारतीय कला का एक अप्रतिम अभिप्राय है।

कल्पवृक्षः— भारतीय परम्परास में कल्प वृक्ष की कल्पना एक ऐसी देवी वृक्ष के रूप में की गई है जो आकांक्षाओं और इच्छाओं की पूर्ति करने की क्षमता सम्पन्न है समुद्र मंथन से उत्पन्न होने वाले चौदह रत्नों में से एक था कल्पवृक्ष। इसकी चार दिशाओं में चार शाखाओं की मान्यता इसके विश्व स्वास्तिक से सम्बन्ध की ओर संकेत करती है। मिथुन (स्त्री-पुरुषों के चुगल) का जन्म कल्पवृक्ष से माना गया है। भरहुत, सांची, भाजा आदि स्थलों में कल्पवृक्ष के अतिरिक्त कल्प-लताओं का अंकन भी हुआ है। कल्पवृक्षों का उल्लेख महाकाव्यों, पुराणों, जातक, जैन, ग्रंथ एवं काव्यों में हुआ है।⁴

स्वास्तिकः— भारतीय जन-जीवन में सर्वोत्तम मांगलिक चिन्ह के रूप में स्वास्तिक की प्रतिष्ठा है इसकी चार भुजाएं विश्व मण्डल के चतुर्भुजी रूप का प्रतिनिधित्व करती है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में पूर्व-दक्षिण-पश्चिम-उत्तर इन चार दिशाओं का एक साथ अनेक बार उल्लेख हुआ है। अग्नि, इन्द्र, वरुण और सोम ये चार देवता चार दिशाओं के अधिपति थे। पश्चात्काल में लोक परम्परा में चार दिशाओं के चार लोकपाल माने जाने लगे। बौद्ध स्तूपों के चार तोरणों पर उनकी मूर्तियां निर्मित होने लगी। अनेक लोक देवताओं को स्वास्तिक की चार दिशाओं से जोड़ा जाने लगा।⁵ लोक मान्यता में गन्धर्वों के अधिपति धृतराष्ट्र को पूर्व दिशा, कुम्भाण्डों के अधिपति विरूढक को दक्षिण दिशा, नागों के अधिपति विरूपाक्ष को पश्चिम दिशा एवं यक्षों के अधिपति वैश्रवण को उत्तर दिशा से सम्बद्ध माना गया है। स्वास्तिक को चतुष्पाद ब्राह्म का भी उपलक्षण कहा जा सकता है इसे विश्व के प्रजापति चतुर्मुख ब्रह्म कभी उपलक्षण का रूप भी माना गया है⁶ सिन्धु घाटी से भी स्वास्तिक अकित मोहरे मिली है।⁷

पूर्ण कलश— वैदिक साहित्य में उल्लिखित अन्य महत्वपूर्ण प्रतीक पूर्ण कलश है जो हिन्दू, बौद्ध एवं जैन कला में समान रूप से प्रयुक्त हुआ है। जैन पाण्डुलिपियों में फूल पत्तियों की मेखला युक्त नेत्रवाली मानवाकृति के रूप में पूर्ण घट की कल्पना की गई है। भारतीय कला में इसका अंकन भरहुत, सांची, अमरावती, मथुरा, नागा, जर्जनी, कोण्ड, सारनाथ, अनुराधपुर आदि स्थलों में किया गया है। जावा के बोरोबुदूर स्तूप में भी पूर्णघट का अंकन हुआ है। पश्चिमी भारत के चैत्यधरो के अनेक भीतरी स्तम्भों पर शीषक और अधिष्ठान में पूर्णघट का अंकन हुआ है। ऋग्वेद में जिस पूर्ण कलश या भद्र कलश का उल्लेख है वह सोम रस से भरा पात्र है। अथर्ववेद में धृत और अमृत से भरे पूर्ण कुम्भ का उल्लेख है। फूल पत्तियों से सज्जित पूर्ण घट सुख सम्पत्ति और जीवन की पूर्णता का प्रतीक है। घट में भरा जल जीवन या प्राण का रस है। मानव भी पूर्ण घट है। विराट विश्व भी पूर्णकुम्भ है। ये दोनों पूर्णता के सूचक हैं। अथर्ववेद में पूर्णकुम्भ नारी का संदर्भ आया है। इस अभिप्राय के मूल में ऐसा मांगलिक प्रतीक लिया जाता था जिसमें सौभाग्यवती स्त्री मंगलघट लिए शोभा यात्रा में चलती थी। आज भी इसे मांगलिक प्रतीक माना जाता है। बौद्ध ग्रंथ ललित विस्तार में पूर्ण कुम्भ कन्या का उल्लेख है। महाकाव्यों में भी अष्टकन्याओं का उल्लेख हुआ है।

चक्र— भारतीय कला में प्रयुक्त होने वाला अन्य अभिप्राय सूर्य या काल का प्रतीक चक्र है। इसे कालचक्र कहा जा सकता है। चक्र वह है जिसमें नियमित गति या छन्दोगति होती है। विराट विश्व की स्थिति को ब्रह्मचक्र कहा जाता है। इस चक्र

को ब्रह्म की शक्ति पहिए की तरह घुमा रही है। इसे संसारचक्र का भी प्रतीक माना जाता है विश्व को नियमित करने वाले ऋत के नियम को आगे चलकर धर्मचक्र और सुदर्शन चक्र कहा गया। दोनों को सहस्रत्रार (हजार अरों वाला) कहा गया ह। सहस्रत्र से तात्पर्य यहां अनन्त से है। चक्र जिस तरह गति सम्पन्न है उसी तरह रथ भी गति सम्पन्न है। रथ की गति निःसन्देह उसके चक्रों अर्थात् पहियों पर आधारित है। सारनाथ का अशोकीय स्तम्भ मूलतः चक्रस्तम्भ था। उसके शीर्ष पर एक महाचक्र लगा हुआ था। बौद्ध धर्म में उसे धर्मचक्र कहा जाता था। मथुरा की जैन कला में वैसा ही चक्र स्तम्भ अंकित है। ऋग्वेद (1.156.6) में इसे विष्णु का व्रतचक्र कहा गया है। पश्चातकाल में भागवतों ने विष्णु के इस व्रतचक्र को सुदर्शन नाम दिया। सुदर्शन का शब्दार्थ है सुन्दर अथवा सुलभ प्रत्यक्ष दर्शनयुक्त। काल सुदर्शन है क्योंकि काल का प्रत्यक्ष दर्शन सबको सदा हो रहा है।

अर्धनारीश्वर— यह एक महत्वपूर्ण कलाभिप्राय है जो सृष्टि के दो आधारभूमत तत्वों के युग्म का प्रतीक है। प्रत्येक नर अर्धभाग में नारी और प्रत्येक नारी अर्धभाग में नर है। अर्धनारीश्वर वस्तुतः स्त्री और पुरुष के सम्मिलित गात्र (शरीर) की परिष्कल्पना का रूप है। स्त्री-पुरुष दोनों हिरण्यगर्भ से उत्पन्न हुए। इन्हें ही द्यावा-पृथिवी कहा जाता है जो क्रमशः विराट् विश्व के पिता-माता है। पारवती-परमेश्वर अथवा उमा-महेश्वर सम्बोधनों का प्रयोग इन्हीं के लिए किया गया है।^{१०} भारतीय मूर्तिशिल्प में आलिंगन बद्ध नर-नारी का अकन मिथुन या अर्धनारीश्वर अभिप्राय का ही प्रतिनिधित्व करता है। उक्त अभिप्राय का अंकन कुषाण गुप्ता तथा गुप्तोत्तर कला में प्रचुर मात्रा में हुआ है।^{११}

श्री लक्ष्मी— श्री लक्ष्मी कलाभिप्राय को भारतीय कला में व्यापक रूप से प्रयुक्त होने वाला अभिप्राय माना जा सकता है। इसका अंकन सांची, भरहुत, अमरावती, मथुरा, बोधगया, उदयगिरि, खण्डगिरि तथा पश्चिमी भारत की अनेकानेक गुफाओं में किया गया है। द्यावा-पृथिवी, शिव पार्वती या राधाकृष्ण की तरह विष्णु और लक्ष्मी विश्व के माता-पिता के प्रतीक है। विष्णु विश्व के प्रमुख देवता है। विष्णु की पत्नी श्री लक्ष्मी समृद्धि एवं सौन्दर्य की अधिष्ठात्री देवी हैं। वैदिककाल से ही सुख सम्पन्न गृहस्थ की देवी के रूप में स्थापित श्री लक्ष्मी को किसी सम्प्रदाय विशेष तक परिसीमित न मानकर भारतीय जनमानस के गृहस्थ आदर्श की देवी कहना ही उचित है। वह पद्यासन पर विराजमान समुद्र पुत्री कमल-वन में खड़ी पद्मनी देवी का रूप है। भारतीय कला में चार हाथी सूड़ों में कलश उठाये देवी का दिव्य जलों से अभिषेक करते हुए प्रायः अंकित किये गये हैं। चार हाथी चार दिशाओं के सूचक दिग्गज हैं तथा कलशों में भरा हुआ दिव्य जल अमृत या सोम है। भारतीयक कला में प्रयुक्त

प्रतीकों के अर्थ निरन्तर विस्तृत होते गये हैं। उनकी नवीन व्याख्याएँ जुड़ी गई हैं। श्री के वृक्ष का अभिप्राय संसार रूपी वृक्ष से है जिसे अश्वत्थ कहा गया है। वही पीपल या बोधितवृक्ष के रूप में भी लोकप्रिय हुआ।¹⁰

कुमार— कुमार को स्कन्द भी कहा जाता है, उसे छः माताओं का पुत्र कहा गया है। कला में उसके छः सिर भी दिखाये गये हैं। उसका आयुध शक्ति और वाहन कुक्कुट तथा मयूर है। ब्रह्म और शिव उसका अभिषेक कराते हैं। इसकी मूर्तियों के पीछे विभिन्न प्रतीकों का सम्मिलित अंकन मिलता है। उसे देवताओं का सेनापति, अद्भुत वीर, अग्नि एवं गंगा का पुत्र और जीवन तत्व का प्रतीक माना जाता है। कालीदास ने स्कन्द को अग्नि के मुख में शिव का तेज कहा है जो सूर्य से अधिक तेजयुक्त है। स्कन्द और तारकासुर के आख्यान में कुमार विज्ञानात्मक दिव्यतेज और तारकासुर इन्द्रियानुगामी अवर मन का सूचक है। दोनों के संघर्ष में विज्ञान की ही विजय होती है।

नाग— नागों की गणना लोक देवताओं में की जाती है। पाताललोक के अधिपति नागों की देवी के रूप में प्रतिष्ठा हुई। कथाओं में नागों को तम और मृत्यु के प्रतीक स्वरूप तथा देवों को अमृत व सत्य का प्रतीक माना गया है। विष्णु वाहन के रूप में अनन्त शेषनाग की कल्पना वस्तुतः महासमुद्र से उत्पन्न नाग के रूप से उत्प्रेरित हुई। कृष्ण, बुद्ध एवं महावीर के जीवन से भी नाग देवों की कथाएं सम्बद्ध हैं। नागों की स्थिति ऐसे लोक देवताओं के रूप में है। जिनके भारतीय साहित्य में प्रचुर संदर्भ मिलते हैं।

यक्ष— यक्ष पूजा की परम्परा भारत में अत्यन्त प्राचीन है। ऋग्वेदिक काल में प्रचलित यक्ष पूजा की प्रथा लोक धर्म का प्रमुख अंग थी। यक्ष को जीवन और विश्व के महा रहस्यमय देव का उपयुक्त प्रतीक माना गया। वह ब्रह्म का ही द्वितीय नाम था। वह एक ऐसी महावृक्ष के समतुल्य है जिसकी शाखाओं पर अनेक देव निवास करते हैं। यक्ष को ब्राह्मण धर्म के अतिरिक्त बौद्ध एवं जैन धर्म सम्प्रदायों ने समानतः अपनाया। जैन— बौद्ध साहित्य में यक्षायतों तथा यक्षचेतिय का उल्लेख आता है। इन्हें वैदिक युग में यक्ष सदन कहते थे। यक्ष पूजा को बाद में वीर पूजा के रूप में प्रतिष्ठा मिली।¹¹

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. शुल्क, प्रो० रामचन्द्र, आधुनिक चित्रकला; साहित्य संगम इलाहाबाद, 2006, पेज नं०-169
2. त्रिवेदी, रामगोविन्द, वैदिक साहित्य, वाराणसी, प्रथम संस्करण-1968, पेज नं० 56
3. जोशी, महेशचन्द्र, युग-युगीन भारतीय कला, राजस्थानी ग्रन्थागार, सोजती गेट, जोधपुर, (राजस्थान) 2006, पेज नं० 65
4. श्रीवास्तव, डॉ० ए०एल०, भारतीय कला प्रतीक, उमेश प्रकाशन, 100 लूकरगंज, इलाहाबाद-211001,

डॉ. ज्योति शर्मा
प्रवक्ता, चित्रकला
श्री सत्यसाई महिला पी.जी. महाविद्यालय
जयपुर

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. A
Sr. 9, 2016
ISSN : 2277-419X

समसामयिक कला में गणेश अंकन – मूर्तिकला के संदर्भ में

ॐ कारमाद्यं प्रवदन्तिसंतो वाचः श्रुतीनामपि यं गृणन्ति।

गजाननं देवगणन्ततडधिनं भजेड हर्मर्धेन्दुकृतावतंसम्।।

भारतीय संस्कृति में श्री गणेशजी का स्थान सर्वोपरि है। हिन्दू धर्म का कोई भी धार्मिक कार्य हो, उसका प्रारम्भ श्री गणेश नमन से ही होता है “श्री गणेशाय नमः।” हिन्दू धर्म में तैंतीस कोटि देवता हैं, किन्तु प्रत्येक देवता की पूजा में अग्रस्थान श्री गणेश देवता का ही है। श्री गणेश तो देवताओं को भी वरदान देने वाले देवता हैं स्वयं श्री गणेश उँकार स्वरूप हैं। वेद में श्री “गणानां त्वा गणपति हवामहे” इत्यादि मंत्र में गणपति का अर्थ ग्रहण किया गया हैं। यजुर्वेद में इन्हें गणपति, प्रियपति एवं निधिपति के रूप में आहूत किया गया है। ये प्रथम पूज्य है, गणेश है, विघ्नेश है साथ ही विद्या-वारिधि और बुद्धि विधाता भी है। स्वास्तिक चिन्ह श्री गणपति का स्वरूप है और दो-दो रेखाएँ श्री गणपति की भार्यास्वरूपा सिद्धि-बुद्धि एवं पुत्र स्वरूप लाभ और क्षेम है। श्री गणपति का बीजमंत्र है- अनुस्वारयुक्त “गं” अर्थात् “गं” इसी “गं” बीजमंत्र की चार संख्या को मिलाकर एक कर देने से स्वास्तिक चिन्ह बना जाता है। इस चिन्ह में चार बीजमंत्रों का संयुक्त होना श्री गणपति की जन्मतिथि चतुर्थी का द्योतक है। श्री गणपति बुद्धि प्रदाता है। इनका पूजन सिद्धि-बुद्धि, लाभ और क्षेम प्रदान करता है, यही भाव स्वास्तिक के आस-पास दो-दो खड़ी रेखाओं का है।

भारतीय शिल्पकला में हमें गणपति गणेश के विविध स्वरूप देखने को मिलते हैं। सुप्रसिद्ध कला पारखी एवं इतिहासकार आनन्दकुमार स्वामी ने शिल्पांकन की दृष्टि से गणपति को एक प्रकार का यक्ष बतलाया है। कला मर्मज्ञ वसुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार भी श्रीगणेश की प्रारम्भिक मूर्तियाँ यक्ष के रूप में ही निर्मित हुईं। यक्ष रूप में गणेश का प्राचीनतम अंकन अमरावती (आंध्रप्रदेश) में उपलब्ध है। उसमें उनका सम्पूर्ण शरीर मानवाकर है जिसे शूङ या सूङ तथा दांतों से रहित दिखलाया गया है। विद्वानों और पुरातत्वेत्ताओं ने उसे मूर्ति के रूप में मान्यता प्रदान की है। गणेश की एक ऐसी ही अन्य मूर्ति श्रीलंका के मिहिनतले स्तूप से भी प्राप्त हुई है। अन्तर

इतना ही है कि इस मूर्ति में उन्हें सूंड तथा दंत युक्त बतलाया गया है।

भारतीय साहित्य एवं कला में गणेश पूजन की परम्परा अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रचलित है। “शिल्परत्न” तथा सूत्रधार मण्डनकृत “रूपमण्डन” आदि ग्रन्थों में भी गणेश मूर्ति-निर्माण की विधि का समाचीन विवेचन उपलब्ध होता है। सर्वप्रथम विस्तारपूर्वक गणेश की प्रतिमा विधान वृहत्संहिता में प्राप्त है, जिसके अनुसार विनायक को गज मुख एवं चतुर्भुज होना चाहिए। उनके दक्षिण हस्त में त्रिशूल एवं अक्षमाला हो तथा वाम हस्त में मोदकपात्र एवं परशु हो। मत्सरूपुराण में गणेश को गजमुख, लम्बोदर, सर्व यज्ञोपवीत, विस्तृतकर्ण विशाल तुंड एवं एकदंत तथा त्रिनेत्रधारी हों। त्रिशूल, अक्षमाला, मोदक, मोदकपात्र, परशु, स्वदंत, कमल, कपित्थ, अंकुश नाग आदि लांछनों में से कोई से चार पदार्थों से वे सुशोभित हो व व्याघ्रचर्मधारी एवं किरीट आदि आभूषणों से सुशोभित तथा वाहन मूषक के साथ हो। ‘अग्निपुराण’ के विवरण के अनुसार गजमुख, लम्बोदर, शूर्पकर्ण, चतुर्भुजी गणपति के हाथों में स्वदन्त परशु, कमल और मोदक होना चाहिए। “अपराजितपृच्छा” वे गजानन, चतुर्भुज, त्रिनेत्र, एकदंत व्याल-यज्ञोपवीत धारी हो उनके दाहिने एक हाथ में स्वदंत तथा दूसरे में परशु हो, बायीं ओर के ऊपर वाले हाथ में कमल तथा नीचे में मोदक हो। मूषक वाहन पर आरूढ़ हो तथा सिन्दूररक्त, कुमकुम जैसा विग्रह हो। ‘वृहत्संहिता’ के अनुसार प्रथम को एकदंत, गजमुख, लम्बोदर तथा परशु, मूलकंद धारी होना चाहिए— “यथा— (प्रमयाधिय गजमुखःप्रलम्बजउरः कुठारधारी एयात्। एकविषाणो विम्रन्मूलककन्दं सुनील दलकन्दम्) यहाँ पर उनकी द्विभूजीमूर्ति का वर्णन नहीं मिलता है।— ‘विष्णुधर्मोत्तर पुराण’ में श्री गणेश गजमुख एवं चतुर्भुज तथा लम्बोदर हों। कान स्तब्धा—वस्था में हो। व्याघ्रधर्म सर्व सर्प—यज्ञोपवीत को धारण किए हुए हों। उनका एक चरण पादपीठ पर और दूसरा आसन पर स्थित हो। यहाँ पर उनके वाहन मूषक का एवं बायीं ओर के दांत का उल्लेख अन्य ग्रन्थों की भांति नहीं हुआ है। “ब्रह्मवैवर्तपुराण” के अनुसार वे शुद्ध चम्पक जैसे वर्ण एवं कोटि चन्द्र सदृश प्रभा वाले तथा अतीव सुन्दर तन वाले हो और सुन्दर लोचन व पके हुए बिम्ब की भांति ओष्ठ आदि से युक्त हो। “रूपमण्डन” के आधार पर उनका मुख हाथीन के समान है, वह मूषक पर आरूढ़ है तथा दंत, परशु—पद्म और मोदक धारण किए हुए हैं। उनके बायें अंग में गज कर्ण तथा दायें अंग में सिद्धि और दोनों कानों के पृष्ठ भाग में धूमक और बाल चंद्रमा होना चाहिए। उत्तर दिशा में गौरी, दक्षिण में सरस्वती, पश्चिम में यक्षराज व पूर्व में बुद्धि स्थित होना चाहिए। गणेश पुराण में वामन भगवान द्वारा गणेश की स्तुति का उल्लेख मिलता है। गणेशजी के अन्तर्धान हो जाने पर श्री वामन ने काश्मीरीय पाषाण से उनकी उत्तम मूर्ति का निर्माण करवाकर उसको स्थ.

पित करवाया। यह मूर्ति चतुर्भुज, तीन नेत्रों वाली, शुंड-मण्डित, प्रसन्नमुखी तथा दो श्रेष्ठ हाथों से भक्तों को अभय प्रदान करने वाली थी। इस मूर्ति के लिए उन्होंने रत्न-कान्चन जटिल एक मंदिर बनवाया और गणेशजी कृपा से बलि पर विजय पायी। इस प्रकार स्पष्ट है कि गणेश की कृपा प्राप्ति के लिए उनकी प्रतिमा की पूजा होती आ रही है और यह परम्परा अनवरत चलती ही रहेगी। भारतीय संस्कृति में समय-समय पर अनेक गणेश मंदिरों एवं मूर्तियों के निर्माण का उल्लेख कला एवं इतिहास के परिप्रेक्ष्य में उल्लेखनीय है।

बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के लगभग तंजौर जनपद के पट्टीशवरम् में निर्मित शिव मन्दिर में प्रसन्न गणपति की त्रिभंग प्रतिमा प्रतिष्ठित है। विष्णुवर्धन के शासनकाल में 1121ई. में उपर्युक्त मन्दिरों का निर्माण आरम्भ हुआ था। शास्त्रों में गणेश मंदिर निर्माण के निम्न तत्त्वों के ऊपर प्रकाश डाला है, जिसके अनुसार गणेश मंदिर में प्रधान मूर्ति से बायीं ओर गौरी की गजकर्ण और दाहिनी ओर सिद्धि की मूर्ति होनी चाहिये। उत्तर की ओर गौरी की, पूर्व की ओर बुद्धि की, आग्नेय दिशा में बालचन्द्र की, दक्षिण में सरस्वती की पश्चिम में कुबेर की और पीछे की ओर धूमक की मूर्ति होनी चाहिए। मंदिर के चारों फाटकों पर दो-दो द्वारपाल होने चाहिये। पूर्वी फाटक के द्वारपालों के नाम अविघ्न और विहनराज, दक्षिण के सुवक्त और बलवान पश्चिम के गजकर्ण और गोकर्ण एवं उत्तर के सुसौम्य और शुभदायक है। “जहाँ तक गणेश पूजा का सम्बन्ध है गुप्त युग के पूर्व गणेश की बहुत कम प्रतिमाएं मिली हैं। वैसे साहित्यिक साक्ष्यों से विदित है कि भारतीय संस्कृति, कला, धर्म में गणपति की उपासना अर्चना एवं पूजन की परम्परा अत्यन्त सनातन है।

मथुरा का कुषाण कालीन प्रतिमा और अमरावती की कला में उत्कीर्ण प्रतिमा में गणपति प्रतिमा की उन समग्र विशेषताओं का चित्रण नहीं हुआ है, जो परवर्ती काल में गणेश विज्ञान के आवश्यक अंग के रूप में वर्णित हैं। जयपुर के समीप रेढ़ नामक स्थान से प्राप्त एक मिट्टी के गजमुखी मातृका की भी मूर्ति मिली है। इन सभी उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्राचीन कलाकार गजमुखी मानव आकृतियाँ बनाने में भली भांति निपुण थे और जब लगभग चौथी शती ई. के करीब उनसे गणपति की मूर्तियाँ बनाने को कहा गया तो उन्होंने पाषाण के माध्यम से हिन्दू, बौद्ध एवं जैन धर्म के देवी देवताओं के साथ ही गणेश की भी कलात्मक प्रतिमाओं का निर्माण किया।

पूर्व मध्यकालीन प्रतिहार काल में गणेश की अनेक मूर्तियों का निर्माण हुआ। राजस्थान में गणपति की अलवर, भरतपुर, चित्तौड़गढ़, कुम्भलगढ़ आदि केन्द्रों में प्राप्त मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं। अलवर जिले में राजगढ़ से प्राप्त 10वीं शताब्दी ई. की एक

मूर्ति राजपूताना संग्रहालय, अजमेर की निधि है। यहाँ भी गणेश स्वदन्त, परशु, पद्म और मोदक पात्र धारण किए हुए, महाराजलीलासन मुद्रा में आसीन तथा करण्डमुकुट, हार, नागयज्ञोपवीत, कटिसूत्र एवं कंकणों से अलंकृत हैं। उनी शुण्ड बायीं ओर मुड़ी है तथा दाएँ पैर के निकट मूषक भी उपस्थित है। चित्तौड़गढ़ में स्थान-स्थान पर विशेष रूप से शिव मन्दिरों और विजयस्तम्भ के भीतरी प्रवेश द्वारों में ललाट-बिम्ब पर उत्कीर्ण चतुर्भुजी गणपति-मूर्तियाँ भी शास्त्रीय विवरणों से पूर्ण साम्य रखती हैं। इनमें से विजयस्तम्भ की मूर्तियों के नीचे प्रायः “श्रीगणेश” लेख भी उत्कीर्ण हैं। चित्तौड़गढ़ की ये सभी प्रतिमाएँ लगभग एक सदृश हैं। इनके हाथ क्रमशः स्वदन्त, परशु, पद्म और मोदक पात्र से युक्त है तथा सुखासन मुद्रा में आसीन इन गजमुखी शूर्पकर्ण, लम्बोदर एवं सामान्य आभूषणों से विभूषित मूर्तियों की शुण्ड प्रायः बायीं ओर मुड़कर मोदक-पूर्णपात्र पर रखी हैं। वक्ष पर श्रीवत्स का अंकन भी किया गया है। ये सभी मूर्तियाँ सूत्रधार मण्डन की समकालीन 15वीं शताब्दी ई. की हैं।

गुजरात की मूर्तियों में सावरकांठा जिले के कुन्दोल नामक स्थान से प्राप्त और अब प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम, बम्बई में सुरक्षित 7वीं-8वीं शताब्दी ई. की एक मूर्ति उल्लेखनीय है यहाँ गजमुख, शूर्पकर्ण, चतुर्भुज, लम्बोदर गणेश पद्मपीठ पर महाराज लोलासन मुद्रा में विराजमान हैं उनके हाथ क्रमशः स्वदन्त, परशु और मोदक पात्र से युक्त हैं। उनकी शुण्ड बायीं ओर मुड़कर मोदक-पात्र से मोदक उठाती प्रदर्शित है। तथा वे व्यालयज्ञोपवीत, हार केयूरो, कटिसूत्र एवं नूपुरों से अलंकृत हैं। मूर्ति का यह सम्पूर्ण चित्रण शास्त्रीय विवरणों से अनुरूप ही है, केवल कुछ भिन्नता ऊपर के दोनों हाथों में है, जिनके आयुध परम्परा बदल गए हैं।

मध्यप्रदेश के खजुराहों क्षेत्र में चन्देलों द्वारा निर्मित मंदिर एवं उनकी भित्तियों पर द्विभुजी, चतुर्भुजी, षड्भुजी आदि अनेक प्रकार की स्थानक, आसन, नृत्य करती हुई तथा अपनी शक्तियों के साथ गणेश की अनेकानेक मूर्तियाँ मिली हैं। खजुराहों से शक्ति के सात गणेश की तीन मूर्तियों का उल्लेख डॉ. रामाश्रय अवस्थी ने अपनी पुस्तक में किया है। गणेश की नृत्य मूर्तियाँ खजुराहों से विविध रूपों में उपलब्ध हुई हैं। ये मूर्तियाँ चतुर्भुजी, अष्टभुजी, दशभुजी तथा षोडशभुजी हैं। खजुराहों के पुरात्व संग्रहालय में गणेश की आदमकद की कई प्रतिमाएँ हैं जिनमें वे अनेक मुद्राओं में चित्रित किये गये हैं। खजुराहों संग्रहालय में ही उनके वाहन मूषक की भी एक स्वतन्त्र मूर्ति है जो मोदक पात्र पकड़े है।

दक्षिण भारत में गणेश मूर्तियों की पूजा एवं प्रतिमा निर्माण की परम्परा अति प्राचीन है। बादामी की गुफाओं में, जो प्रारम्भिक पश्चिम चालुक्य युगीन इनका छठीं शती ई. की है, शिव नटराज मूर्ति की बायीं ओर द्विमुख खड़े गणेश का अंकन

मिलता है। इस पर गुप्त कालीन प्रभाव दर्शनीय है। ऐलोरा के मन्दिरों में गणेश की अनेकानेक मूर्तियाँ मिली हैं जो सातवीं शती में निर्मित जान पड़ती हैं त्रिचनापल्ली में शिव मन्दिर के नजदीक ही गणेश को खड़े दिखाया गया है। हेरम्ब गणपति की ताम्र मूर्ति नागपट्टम के नीलायताक्षीयम्न मन्दिर में प्राप्त हुई है। गणपति शेर पर विराजमान हैं। उनके दो हाथ वरद और अभय मुद्रा में जबकि अन्य आठ हाथों में वे परशु, पाश, दन्त तथा अंकुश इत्यादि लिए हुए हैं। हेरम्ब गणपति के पांच सिर हैं, जिसमें से एक ऊपर की ओर तथा अन्य चार-चार अन्य दिशाओं की ओर स्थित है। राव महोदय इस प्रतिमा को 15वीं शती ई. से पुराना नहीं माना है। केरल प्रान्त से भी गणेश की कुछ प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं इनमें या तो वे मूषक पर सवार दिखाये गये हैं अथवा अपनी शक्ति के साथ विद्यमान हैं। ऐसी मूर्तियाँ, जो अधिकतर कांस्य निर्मित हैं, 16वीं, 17वीं शती ई. की हैं।

भारतीय समसामयिक मूर्तिकला में 20वीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक भारतीय कला में औपनिवेशी चित्रभाषा की प्रमुखता तथा स्मारकीय मूर्तिशिल्प के प्रति आग्रह दिखाई देता है। स्वतंत्रता के बाद ही हमारी कला में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, प्रयोजन को लेकर विविधता तथा रीतिबद्ध सिद्धान्तों को त्यागकर समकालीन सौंदर्यशास्त्रीय मूल्यों को अपनाने के रुझान दिखाई देते हैं।

1930 के दशक से भारतीय मूर्तिकारों ने निजी शैलियों को अपनाना शुरू किया तथा विभिन्न पद्धतियों व माध्यम में तरह-तरह के प्रयोग करने शुरू कर दिये थे। सन् 1925 से 1950 के दौरान महत्वपूर्ण मूर्तिकारों में देवी प्रसाद राय चौधरी, एस. पनसारे, वी.पी.करमारकर और रामकिंकर बैज क्योंकि ये लीक से हटकर चलने वाले कलाकार थे। “अजीत से अप्रभावित इन कलाकारों ने सृजन के प्रति अपने प्रेम तथा अंतः प्रज्ञा के प्रति निष्ठा रखकर काम किया था।” आज के मूर्तिकार इन्हीं अग्रणी मूर्तिकारों के ऋणी हैं जिन्हें इन संक्रांति काल के कलाकार भी कह सकते हैं।

सन् 1950 के दशक में देश में राष्ट्रीय आधुनिक कला दीर्घा और ललित कला अकादमी की स्थापना की गई। ये दो ऐसी बड़ी संस्थाएँ थी, जिनके माध्यम से देश में आधुनिक व समसामयिक कला धारा को पर्याप्त प्रोत्साहन मिलना प्रारम्भ हुआ। ललित कला अकादमी की स्थापना 5 अगस्त 1954 को नई दिल्ली में हुई और रवीन्द्र भवन में इन्होंने अपना कार्य 1961 ई. से प्रारम्भ किया, जिसके प्रथम अध्यक्ष प्रतिद्ध मूर्तिकार देवी प्रसाद चौधरी को बनाया गया।

1950 ई. और उसके आगे के कुछ वर्षों में देश में अनेक युवा मूर्तिकार सृजनरत रहे, जो नवीन प्रयोग के माध्यम से देश में आधुनिक कला का माहौल रच रहे थे। मिट्टी व पत्थर की जगह टेराकोटा, टेपेस्ट्री, फाइबर, हाथ बुनाई, मृदमाण्ड,

पेपरमेशी, शीश चित्रण, ताम्बे पर एनैमल, टाई एण्ड डाई आदि माध्यमों का प्रयोग सृजनाभिव्यक्ति होने लगी। आधुनिक विषय वस्तु के साथ-साथ प्राचीन विषयों को प्रयोग कर नये रूप में मूर्त देने लगे जिनमें धार्मिक विषय—देवी—देवताओं की मूर्तियाँ बनाई जाने लगी परन्तु समसामयिक कला में युवा मूर्तिकारों देवताओं प्रथम पूज्य देव श्री गणेश को मूर्तिशिल्प में ढालने में विशेष रूचि दिखाई। विभिन्न—विभिन्न माध्यमों से श्री गणेश की अनेकानेक मूर्तियाँ बनाई गई जो भारतीय समसामयिक मूर्तिकला में देखने को मिलती है। श्री गणेश की मूर्तियों में विशेष रूचि दिखाने वाले मूर्तिकारों में पी.वी. जानकीराम के द्वारा बनाई गणेश की मूर्ति उल्लेखनीय है। इसे आक्सिडाइज्ड तांबे में ढाला गया है। इसमें श्री गणेश को चार भुजाधारी दिखाया गया है। एक हाथ से वाध्ययंत्र बजा रहे और नृत्य कि मुद्रा में हैं। के.एम.गोपाल, की अर्धनारीश्वरी की अवधारणा पर बनी कृति “अर्ध गणेश्वरी-1” जिसमें शिव—शक्ति की पुनर्व्याख्या की गई है। इसमें भगवान अर्ध गणेश्वरी को अष्टभुजाधारी शेर पर विराजमान बनाया गया है। जिसके हाथों में विभिन्न प्रकार के अस्त्र—शस्त्र व कमल पुष्प धारण किये गये हैं। गगन बिहारी दाधीच की कृति “गणेश” को टेराकोटा में बनाया गया है इसमें श्री गणेश नृत्य कर रहे हैं। युवा मूर्तिकार ललिता और राम कोगाता की मूर्तिशिल्प बैठे हुये गणपति संगमरमर से बनी यह मूर्तियाँ बहुत ही सुन्दर हैं। इनमें भगवान गणेश को आदम रूप में दो ही भुजा बनाई गई है और पेट बड़े आकार में बाहर निकलता दिखाई देता है। ज्ञानसिंह की कृति गणेश को सफेद संगमरमर से बनाया है। इसमें भगवान गणेश बैठे हुए हैं। मुख पीपल के पत्ते के तरह उकेरा गया है, सूंड नीचे तक बनाई गई है, पेट बहुत मोटा दिखाई देता है। एक अन्य लाल पत्थर की मूर्ति भगवान गणेश के हाथ में लड्डू बनाया गया है। अरविन्द मिश्रा का एक मूर्तिशिल्प गणेश बहुत आकर्षित है जो अमूर्त भाव लिए हुए है। इसे संगमरमर से बनाया है। इसमें गणेश मुख बहुत पलता एवं सूंड बहुत लम्बी है जिसे एक हाथ से दबा रखा है। चिन्मय मेहता द्वारा बनाई गई गणपति की मूर्ति विशेष है। इसे पीतल से बनाया गया है इसमें भगवान गणेश नृत्य कर रहे हैं, नीचे उनका वाहन मूषक बना हुआ है। मूर्ति के चारों तरफ सुन्दर अलंकरण बनाया हुआ है। श्री गणेश की अन्य मूर्तियों में भी विविधता देखने को मिलती है। सरिता मूर्ति शिल्प में गणेश खड़े हैं और हाथ पर गाय खड़ी है, सूंड ऊपर की ओर है। इसमें गणेश मनोरंजन की मुद्रा में है जो विशेष उल्लेखनीय है। इसी क्रम में एक और मूर्तिशिल्प में भगवान श्री गणेश को प्रतीकात्मक रूप में उत्कीर्ण किया है। जिनकी सूंड में कमल पुष्प एवं मस्तक पर चन्द्रमा अंकित है। इस प्रकार समसामयिक भारतीय कला में चित्रकला के साथ-साथ मूर्ति कला में विविध प्रयोग कर शिल्पकारों ने भगवान गणेश को विविध रूपों में अनेकानेक मूर्तियों का सृजन किया है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. प्रेमचन्द गोस्वामी, भारतीय कला के विविध स्वरूप, जयपुर
2. विष्णुधर्मोत्तर पुराण
3. मत्स्यपुराण
5. ब्रह्मवैवर्त पुराण
6. गणेश पुराण
7. शिवकुमार शर्मा, प्रेमशंकर द्विवेदी, भारतीय साहित्य एवं कला में गणेश, वाराणसी, 1966
8. प्रेमशंकर द्विवेदी, भारतीय चित्रकला के विविध आयाम, वाराणसी, 2007
9. वासुदेव शरण श्रीवास्तव, प्राचीन भारतीय प्रतिमा विज्ञान
10. ब्रजेन्द्रनाथ शर्मा, मूर्तिकला में गणेश-कल्याण
11. प्राणनाथ, भारत की समकालीन कला एक परिप्रेक्ष्य, दिल्ली, 2006
12. मीनाक्षी कासलीवाल, भारतीय मूर्ति शिल्प एवं स्थापत्य कला, जयपुर, 2009
13. ममता चतुर्वेदी, समकालीन भारतीय कला, जयपुर, 2008
14. ए.एस.रमन, समकालीन कला, ललित कला अकादमी की पत्रिका, अंक 9-10, दिल्ली

बनवारी लाल मीना
असिस्टेंट प्रोफेसर (शिक्षा)
मौलाना आज़ाद नेशनल उर्दू यूनिवर्सिटी
हैदराबाद

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. A
Sr. 9, 2016
ISSN : 2277-419X

शिक्षा का सार्वभौमिककरण: शिक्षा का मौलिक अधिकार

हमारा संविधान राष्ट्र की संस्कृति, सभ्यता, मानवीय मूल्य एवं मानवाधिकार – न्यायिक प्रशासन के ऐसे दर्पण के समान है, जो हमारी मानवतावादी संस्कृति की विरासत का दस्तावेज भी है। हमारे भारतीय संविधान से संप्रभुता के लिए एकता और अखण्डता के साथ समता, भातृत्व भावना पर अधिक बल दिया गया है, वहीं लोकतंत्रातक गणराज्य, सामाजिक न्याय, आर्थिक, राजनीतिक स्वतंत्रता, विश्वास, धर्म, उपासना की स्वतंत्रता के साथ-साथ एकहरी नागरिकता, अवसर की समता, सभी नागरिकों को धर्म, विश्वास, जातिबंधन से हटकर समता तथा बंधुता को सर्वोपरि महत्त्व दिया है।

विषय प्रवेश :

देश की शिक्षा का इतिहास किसी देश की सभ्यता और संस्कृति का इतिहास होता है। भारत में वैदिक युग में युगानुरूप वैज्ञानिक शिक्षा का प्रावधान था। वहीं समय-समय पर भाषाविदों द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में नवीन प्रयाग भी किए जाते रहे। प्रत्येक स्वतंत्र राष्ट्र को यह अधिकार प्राप्त होता है कि वह अपनी शासन व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए अपनी आशाओं और आकांक्षाओं के अनुरूप अपना संविधान चलाये। इस दिशा में हमारे देश में संविधान सभा का गठन हुआ तथा इस सभा ने दो वर्ष ग्यारह माह और अठारह दिन के अथक एवं निरन्तर परिश्रम के पश्चात् संविधान को 26 नवम्बर 1949 को, अंगीकृत और अधिनियमित किया। यह संविधान विश्व का सर्वाधिक व्यापक संविधान है। इसमें 395 अनुच्छेद, 8 अनुसूचियाँ और 4 परिशिष्ट हैं। यद्यपि बाद में संशोधनों के द्वारा इसमें अनेक परिवर्तन हुए हैं तथा 4 अनुसूचियाँ जोड़ दी गई हैं।'

भारतीय संविधान के मौलिक उद्देश्यों एवं लक्ष्यों को संविधान की प्रस्तावना में दर्शाया गया है। डॉ. के. एम. मुन्शी² ने इसे संविधान की 'राजनीतिक कुण्डली' बताया है। इसके महत्त्व के कारण इसे 'संविधान की आत्मा' भी कहा जाता है। इस प्रस्तावना में 'राष्ट्र की एकता' और 'व्यक्ति की गरिमा' को विशेष महत्त्व दिया गया

है। यह संघ सरकार का दायित्व है कि वह व्यक्ति को व्यक्तित्व का आदर करें तथा ऐसी अवस्थाएँ बनाये जिसमें व्यक्ति आत्मापूर्ति के लिए स्वतंत्रता का अनुभव करें।

संविधान निर्माताओं का यह प्रयास रहा है कि यथा संभव सभी व्यवस्थाओं का स्पष्ट वर्णन हो इसी कारण इसमें 395 अनुच्छेद तथा 12 अनुसूचियों के साथ स्पष्ट परिशिष्ट भी है। इसके निर्माण में 2 वर्ष 11 माह 18 दिन³ का समय लगा तथा इसमें प्रत्येक पक्ष पर लिखित एवं स्पष्ट विवरण दिया गया है। नागरिकों को छः स्वतंत्रताएँ प्रदान की गई हैं। हमारे मूल कर्तव्यों में मुख्य है, जैसे :- राष्ट्र की एकता व अखण्डता की रक्षा, शान्ति, त्याग व समरसता बनाये रखना, सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का प्रयास। भारत का नागरिक राष्ट्र के किसी भी क्षेत्र में निवास करता हो, उसे एक ही भारतीय नागरिकता प्राप्त है। 18 वर्ष की आयु प्राप्त भारत के प्रत्येक व्यस्क स्त्री, पुरुष को बिना किसी भी प्रकार के भेदभाव के मताधिकार प्रदान किया गया है। भारतीय संविधान में अपनी आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर कठोर व लचीलेपन का समन्वय किया गया है। संविधान राष्ट्रीय एकता एवं सम्पर्क भाषा के रूप में हिन्दी को भारतीय संघ की राजभाषा को घोषित करता है। संविधान में कहा गया है कि राज्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की वृद्धि एवं राष्ट्रों के मध्य न्याय एवं सम्मानपूर्वक सम्बन्धों को बनाये रखने का प्रबन्ध करेगा।

राज्य की नीति के निदेशक तत्व :-

राज्य की नीति के निदेशक तत्व भारतीय संविधान की अद्भुत विशेषता है। हमारे देश में संविधान निर्माता, लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना चाहते थे। इस उद्देश्य से उन्होंने नीति -निदेशक तत्वों को संविधान में सम्मिलित किया। राज्य की नीति के निदेशक तत्व ऐसे दो दर्पणों के समान हैं जिनमें हम भविष्य के समाज और सरकार के स्वरूपों को देख सकते हैं। ये तत्व शासन व्यवस्था के मूल तत्व हैं।

संविधान की धारा 37 में लिखा है कि राज्य का यह कर्तव्य है कि देश के प्रशासन के लिए कानून-निर्माण करते समय इन तत्वों या सिद्धान्तों को लागू किया जाए।

भारतीय संविधान के भाग चार के अनुच्छेद 36 से 51 तक राज्य के नीति निदेशक तत्वों का उल्लेख किया गया है। इस भाग के अतिरिक्त अनुच्छेद 350ए और 351 में भी इनका उल्लेख मिलता है। अनुच्छेद 350ए प्राथमिक शिक्षा को मातृभाषा में प्रदान करने की बात करता है और अनुच्छेद 351 हिन्दी भाषा के विकास की व्यवस्था करने पर बल देता है।

भारतीय संविधान में भी राष्ट्र के सही अर्थों में गणतंत्र होने की दशा में कारगर

एवं महत्वपूर्ण संहिताओं को यथोचित स्थान पर व्याख्या सहित समाविष्ट किया गया है। प्रस्तुत लेख में संविधान में उल्लेखित शिक्षाई प्रावधानों पर विशेष रूप से ध्यान केन्द्रित किया गया है।

शिक्षा से सम्बन्धित संविधान के विभिन्न अनुच्छेद :-

भारतीय संविधान के विषय में सामान्य जानकारी प्राप्त करने तथा नीति निदेशक तत्वों को समझने के पश्चात् एवं शिक्षाशास्त्र के विद्यार्थी के लिए संविधान में शिक्षा सम्बन्धी व्यवस्थाओं की जानकारी प्राप्त करना भी आवश्यक है। इससे सम्बन्धित प्रमुख अनुच्छेद⁴ निम्नलिखित है :-

❖ अनुच्छेद - 15(1) - धर्म, जाति, लिंग के आधार पर विभेद पर रोक लगाई गई है।

❖ अनुच्छेद - 15(3,4) - महिलाओं तथा सामाजिक व शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों के लिए विशेष प्रावधान बनाने पर किसी प्रकार प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाएगा। अनुच्छेद-15 समानता के अधिकार के अन्तर्गत शिक्षा के संदर्भ में भी लागू होता है, जिसके आधार पर शिक्षा की व्यवस्था बिना किसी विभेद के प्रसारित की जाएगी।

❖ अनुच्छेद - 19 से 22- इस अनुच्छेद में व्यक्ति की स्वतंत्रता की बात कई आधारों पर की गई है। अनुच्छेद 19(1) (क) नागरिकों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार प्रदान करता है। अभिव्यक्ति के लिए शिक्षा की उपादेयता स्वतः ही परिलक्षित होती है।

❖ अनुच्छेद -21 - प्राण व दैहिक स्वतंत्रता का अधिकार अर्थात् गरिमापूर्ण जीवन जीने का अधिकार, यह अनुच्छेद कराता है। इस संदर्भ में भी शिक्षा के बिना गरिमापूर्ण ढंग से जीवन संभव नहीं है।

❖ अनुच्छेद - 23 और 24 का सरोकार शोषण के विरुद्ध अधिकार से है। अनुच्छेद 24, 14 वर्ष से कम आयु के बच्चों की किसी फौवट्री या जोखिम वाले काम में संलग्नता का निषेध करता है।

❖ अनुच्छेद - 28 - यह अनुच्छेद शैक्षिक संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा प्रदान करने से सम्बन्धित व्यवस्थाओं की चर्चा करता है। यह प्रत्यक्ष रूप से शिक्षा से जुड़ा अनुच्छेद है। इस अनुच्छेद के तीन उपखण्ड है :-

(1) वे विद्यालय जो पूरी तरह से राज्य द्वारा संचालित किये जा रहे है उनमे किसी भी प्रकार धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था नहीं की जा सकती है।

(2) वे विद्यालय जिनकी स्थापना किसी निजी ट्रस्ट या संगठन द्वारा की गई है। धार्मिक शिक्षा प्रदान कर सकते है।

(3) कोई भी विद्यालय जो सरकार द्वारा मान्यता अथवा अनुदान प्राप्त कर रहा है, अपने किसी भी व्यक्ति को धार्मिक शिक्षा ग्रहण करने अथवा किसी विशिष्ट पूजा आदि में भाग लेने के लिए बाध्य नहीं कर सकता है।

❖ अनुच्छेद-29 तथा 30 – ये दोनो अनुच्छेद अल्पसंख्यकों को आपनी शैक्षिक संस्थाएँ बनाने का अधिकार प्रदान करते हैं। अनुच्छेद 29 में शिक्षा से सम्बन्धित दो व्यवस्थाएँ है, प्रथम भारत के किसी भी भाग में रहने वाला नागरिक समूह, जिसकी अपनी पृथक भाषा, लिपि या धर्म हो, उसे अपनी संस्कृति की रक्षा करने का पूरा अधिकार है। द्वितीय, राज्य द्वारा संचालित या अनुदानित कोई भी शैक्षिक संस्था धर्म, जाति, भाषा आदि के आधार पर किसी का भी प्रवेश निषेध नहीं कर सकता है। अनुच्छेद 30 में शिक्षा सम्बन्धी दो व्यवस्थाएँ है। प्रथम जिमसें प्रत्येक अल्पसंख्यक को, चाहे वे धर्म या भाषा पर आधारित हों, अपनी पंसद की शैक्षिक संस्थाएँ बनाने का अधिकार है। द्वितीय, विद्यालय या संस्था जिसे किसी भाषा या धर्म के आधार पर अल्पसंख्यक समुदाय चला रहा है, इस आधार पर राज्य सरकार अनुदान देने में पक्षपात नहीं करेगी।

❖ अनुच्छेद 45 – संविधान में शिक्षा से जुड़ा यह एक महत्वपूर्ण अनुच्छेद है, जिसमें अनिवार्य तथा निःशुल्क शिक्षा व्यवस्था करने के प्रावधान का उल्लेख किया गया है। इस अनुच्छेद की अनुपालना में राष्ट्र में संविधान के लागू होने की तिथि से आने वाले 10 वर्षों में बच्चों के लिए सरकार द्वारा अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था करने का प्रावधान है।

❖ अनुच्छेद 46 – इस अनुच्छेद में अनूसूचित जातियों, जनजातियों तथा कबीलों के आर्थिक व शैक्षिक विकाश का सम्पूर्ण दायित्व संघीय सरकार को सौंपा गया है।

❖ अनुच्छेद 350ए-इसके अनुसार प्राथमिक स्तर पर शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होनी चाहिए व सरकार का इस सम्बन्ध में दायित्व है कि वह व्यवस्था बनाये जिससे प्राथमिक विद्यालयों शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो।

❖ अनुच्छेद – 351 – हिन्दी भाषा की राष्ट्रभाषा का दर्जा देने से जुड़ा यह अनुच्छेद देवनागिरी लिपी मे हिन्दी के विकास की व्यवस्था करता है। केन्द्र सरकार का यह दायित्व है कि वह हिन्दी प्रचार-प्रसार की व्यवस्था करें। इस प्रकार से हिन्दी भाषा को भारत के सभी नागरिकों कि अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने का संवैधानिक उत्तरदायित्व केन्द्र सरकार का है।

संविधान में राज्य की नीति निदेशक तत्व के अन्तर्गत अनुच्छेद 45 ही वह एकमात्र अनुच्छेद जो मजबूती से शिक्षा के अधिकार की बात करता है। और यही अनुच्छेद बच्चों की शिक्षा के संदर्भ को महत्वपूर्ण बनाता है। यदि इसे वैधानिक दृष्टिकोण से देखें तो संविधान की किसी धारा में निश्चित समयावधि का जोड़े जाना इस अनुच्छेद की गंभीरता को प्रकट करता है।

केन्द्र व राज्यों के शिक्षा सम्बन्धी अधिकार :-

संविधान के केन्द्र व राज्य सरकारों के शैक्षिक^o उतरदायित्वों तथा अधिकार क्षेत्र का स्पष्ट विभाजन किया गया है। संविधान में तीन सूचियाँ बनाई हैं। पहली सूची केन्द्र सूची है। इसमें दिये गये विषयों पर केन्द्र सरकार या संसद कानून बना सकती है। दूसरी सूची राज्य सूची है। इसमें दिये गये विषयों पर केन्द्र सरकार या संसद कानून बना सकती है। तीसरी सूची समवर्ती सूची है, इसमें दिये गये विषयों पर केन्द्र सरकार या राज्य सरकार दोने कानून बना सकते हैं। संविधान की इन तीनों सूचियों में अनेक विषय शिक्षा से सम्बन्धित हैं। केन्द्र सूची^o में वर्णित विषय निम्नवत हैं :-

प्रविष्टि 62— राष्ट्रीय महत्व के पुस्तकालय व संग्रहालय जैसे राष्ट्रीय पुस्तकालय, भारतीय संग्रहालय आदि तथा संसद द्वारा घोषित राष्ट्रीय महत्व के पुस्तकालय व संग्रहालय ।

प्रविष्टि 63— राष्ट्रीय महत्व की उच्च शिक्षा संस्थाएँ जैसे बनारस हिन्दु विश्वविद्यालय अलीगढ़, मुस्लिम विश्वविद्यालय , दिल्ली विश्वविद्यालय, विश्व भारती आदि एवं संसद द्वारा घोषित राष्ट्र महत्व की उच्च शिक्षा संस्थाएँ।

प्रविष्टि 64— राष्ट्रीय महत्व के वैज्ञानिक एवं तकनीकी संस्थान।

प्रविष्टि 65— व्यावसायिक व तकनीकी प्रशिक्षण संस्थान तथा विशिष्ट अध्ययन में अनुसंधान प्रोत्साहन।

प्रविष्टि 66— उच्च शिक्षा या अनुसंधान के संस्थानों, तथा वैज्ञानिक व तकनीकी संस्थानों मानकों का निर्धारण व समन्वय।

केन्द्रीय सूची में वर्णित इन विषयों के अतिरिक्त राज्य सूची में निम्नांकित विषयों में सम्मिलित किया गया है :-

समय—समय पर आवश्यकता एवं वैधानिक उतरदायित्व के चलते संविधान में कई संशोधन भी हुए हैं। संविधान संशोधन एक जटिल एवं व्यापक प्रक्रिया हैं, जिसे एक व्यवस्थित क्रम में व्यापक एवं गहन विचार—विमर्श के पश्चात् व्यवहार में लाया

जाता है। भारतीय संविधान में हम कई संशोधनों को इस क्रम में समझ सकते हैं। इस लेख में हम उन्ही संविधान संशोधनों को अपनी चर्चा का हिस्सा बनाएंगे जो शिक्षा या शिक्षा को लेकर किये गये हैं।

संविधान संशोधन अधिनियम 2002 (86वाँ) :-

सन 1992 में सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष उपस्थित वाद (मोहिनी जैन बनाम कर्नाटक राज्य) में यह प्रश्न उभरा कि क्या शिक्षा का अधिकार संविधान के भाग - 3 (मौलिक अधिकार) में शामिल है या नहीं? सर्वोच्च न्यायालय ने सभी पूर्व के फैसलों तथा स्थापित तर्कों के आधार पर माना कि शिक्षा का अधिकार शाब्दिक रूप में बतौर मौलिक अधिकार संविधान के भाग - 3 में दर्ज नहीं है, लेकिन यदि संविधान के अनुच्छेद 21, 38, 39 (A/F), 41 और 45 को एक साथ एकीकृत रूप में देखे तो यह बात स्पष्ट होती है कि संविधान निर्माताओं ने नागरिकों को शिक्षा उपलब्ध कराने की जिम्मेदारी राज्य को सौंपी है। संविधान में वर्णित अनुच्छेद-21 में शामिल गरिमापूर्ण जीवन जीने का अधिकार तक तक सुनिश्चित नहीं हो सकता जब तक उसके साथ शिक्षा का अधिकार शामिल न हो और इसी तरह अनुच्छेद 19 में स्वतंत्रतापूर्वक जीवन जीने के अधिकार का कोई मतलब नहीं है जब तक उसमें शिक्षा की भूमिका स्पष्ट न हो। संविधान की प्रस्तावना में दर्ज सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक प्रक्रियाओं को भी शिक्षा के बगैर हासिल नहीं किया जा सकता। इस तरह इस मामले में सर्वोच्च न्यायालय में 'शिक्षा का अधिकार' को नागरिकों के मौलिक अधिकार के बतौर ही माना है। इसी क्रम में सर्वोच्च न्यायालय के विभिन्न फैसलों के तहत शिक्षा के अधिकार को लेकर चली बहस (उन्नीकृष्णान बनाम आंध्रप्रदेश, 1993) में न्यायालय के ऐतिहासिक फैसले के द्वारा शिक्षा को एक मौलिक अधिकार के रूप में घोषित विधिक मान्यता प्रदान कर दी गई। इस ऐतिहासिक निर्णय के तहत सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि संविधान के भाग-4 के अनुच्छेद 45 को, भाग 3 के अनुच्छेद 21 (गरिमापूर्ण जीवन जीने का हक) के साथ जोड़कर पढ़ा जाना चाहिए। इस फैसले के द्वारा यह माना गया है कि 14 वर्ष तक की उम्र के सभी बच्चों को विधि के समक्ष निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा का मौलिक अधिकार है। 16 फरवरी 2010 को जारी अधिसूचना के आधार पर अधिनियम 1 अप्रैल 2010 से प्रभावशील है।

यह अधिनियम जितना महत्वपूर्ण है उतनी ज्यादा इसके क्रियान्वयन से जुड़ी चुनौतियाँ हैं। कुछ महत्वपूर्ण प्रावधान और चुनौतियाँ निम्नानुसार हैं।

(1) अनिवार्य शिक्षा

- (2) प्राइवेट स्कूलों में निःशुल्क प्रवेश
- (2) बच्चों को निर्धारित अवधि तक विद्यालय में रखना
- (3) विद्यालयी सुविधाओं को सार्वभौमिक बनाना
- (4) नामांकन को सार्वभौमिक बनाने की चुनौती
- (5) दोषपूर्ण शिक्षा नीति को दूर करना
- (6) प्राथमिक विद्यालयों के प्रशासन तंत्र में निश्चित नीति का अभाव
- (7) शहरी व ग्रामीण क्षेत्रों में विकास की भिन्नता

विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि शिक्षा का अधिकार अधिनियम के प्रावधानों को समग्र रूप से यदि विचार किया जाए हो बच्चों की कक्षा में फेल न करने के प्रावधान को लेकर शैक्षिक गुणवत्ता प्रभावित होने की जो आशंकाएँ व्यक्त की जा रही हैं। उनका समाधान हो जाता है। जरूरत यह है कि अधिनियम के विभिन्न प्रावधानों का क्रियान्वयन अधिनियम की भावना के अनुरूप किया जाए।

नए अनुच्छेद 21 क का अंतःस्थापन – संविधान के अनुच्छेद 21 के पश्चात् निम्नलिखित अनुच्छेद अंतस्थापित किया जायेगा अर्थात् –

21 क : शिक्षा का अधिकार – राज्य छः से चौदह वर्ष तक की आयु वाले सभी बालकों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा देने की एसी रीति से, जो राज्य विधि द्वारा अवधारित करे, उपबन्ध करेगा।

अनुच्छेद 45 के स्थान पर नए अनुच्छेद का प्रतिस्थापन – अनुच्छेद 45 के स्थान पर निम्नलिखित अनुच्छेद रखा जाएगा अर्थात् –

अनुच्छेद 45 'छ' वर्ष के कम आयु के सभी बालकों के प्रति प्रारम्भिक बाल्यावस्था देखरेख और शिक्षा का उपबन्ध, राज्य, सभी बालकों को लिए छः वर्ष की आयु पूरी करने तक, प्रारम्भिक बाल्यावस्था देखरेख और शिक्षा देने के लिए उपबन्ध करने का प्रयास करेगा।

अनुच्छेद 51 (क) का संशोधन – संविधान के अनुच्छेद 51 (क) में खण्ड (ब) के पश्चात् निम्नलिखित खण्ड जोड़ा जाएगा अर्थात् (ट) “ यदि माता-पिता या संरक्षक है, छः वर्ष से चौदह वर्ष तक की आयु वाले अपने यथास्थिति, बालक, या प्रतिपाल्य के लिए शिक्षा के अवसर प्रदान करें।”

संविधान संशोधन	वर्ष	प्रभावित अनुच्छेद/अनुसूचियाँ	संशोधित प्रमुख विषय
42वाँ	1976	प्रस्तावना 31, 39 भाग-4, भाग-14	राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों का विस्तार एवं नीति निर्देशक तत्वों की मौलिक अधिकारों पर प्राथमिकता स्थापित समवर्ती सूची में शिक्षा को जोड़ा गया।
44वाँ	1978	19, 22, 30, 38, 74, 77	जीवन एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा प्रेस स्वतंत्रता को

			सुनिश्चित किया गया।
73वाँ/74वाँ	1992	अनुसूची 11 व 12	विकेन्द्रीकरण, पंचायतीराज/स्थानीय निकाय।
86वाँ	2002	अनु. 21ए-45, 512-ए(के)	राज्य द्वारा 6-14 साल तक के सभी बच्चों को निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा उपलब्ध कराने की व्यवस्था करना।
93वाँ	2006	अनुसूची 15(5)	निजी एवं गैर-सरकारी अनुदान प्राप्त शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश में सामाजिक एवं शैक्षणिक रूप से पिछड़ों के लिए आरक्षण।

प्रावण्ट-11 - कन्द्राय सूचा क प्रावण्ट 63, 64, 65, 66 तथा समवता सूची के क्रमांक 25 के प्रावधानों के अतिरिक्त विश्वविद्यालयों सहित शिक्षा।

प्रविष्टि-12 - राष्ट्रीय महत्व के घोषित न किये गये तथा राज्य द्वारा नियंत्रित या वित्तीय सहायता प्राप्त पुस्तकालय, संग्रहालय तथा ऐतिहासिक स्मारक आदि।

समवर्ती सूची के प्रविष्टि 25 में केन्द्र व राज्य सरकारों को यह अधिकार प्रदान किये गए हैं कि वे श्रमिकों के व्यावसायिक व तकनीकी प्रशिक्षण के लिए आवश्यक अधिनियम बना सकें।

स्पष्ट है कि संविधान निर्माताओं ने सूझ-बूझ के साथ शिक्षा सम्बन्धी विषयों को राज्य व केन्द्र के अधिकार क्षेत्र में सम्मिलित किया था। सम्पूर्ण राष्ट्र में एक शिक्षा पद्धति लागू करने तथा शिक्षा की गुणवत्ता को बनाये रखने के लिए 1976 में 42वें संविधान संशोधन द्वारा शिक्षा को समवर्ती सूची में लाया गया। जिससे केन्द्र इन विषयों पर भी कानून बना सकता है। 1952 में माध्यमिक शिक्षा आयोग मुदालियर कमीशन⁹ नियुक्त हुआ जिसने माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में सुधार हेतु प्रयास किए शिक्षा को संविधान की समवर्ती सूची में स्थान दिलाया। इसका तात्पर्य शिक्षा का दायित्व केन्द्र और राज्य दोनों पर होना था। संविधान द्वारा शिक्षा को जनसाधारण के कल्याण का साधन स्वीकार किया जाना तथा सभी को शिक्षा प्राप्ति के अधिकतम एवं हरसंभव अवसर प्रदान करने की भावना से प्रेरित होकर संविधान संशोधनों की प्रक्रियाओं द्वारा शिक्षा संबंधी विभिन्न विषयों की आवश्यकताओं व प्राथमिकताओं में स्थानीय व प्रांतीय विविधता को ध्यान में रखकर केन्द्र तथा राज्यों के अधिकार क्षेत्र में स्पष्ट विभाजन किया गया है।

व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है, अन्य व्यक्तियों के साथ जीवन यापन करता है। समाज में ही उसके व्यक्तित्व का विकास⁹ होता है तथा वह पूर्णता को प्राप्त करता है। यदि उसे विकास के लिए समुचित अवसर व सुविधाएँ न मिले तो वह अपूर्ण रह जाएगा। इसके लिए राज्य व्यक्ति को कुछ सुविधाएँ प्रदान करता है। कुछ सुविधाएँ व्यक्तिगत होती हैं, कुछ सार्वजनिक कल्याण की प्रायः समाज उन मांगों को

स्वीकार कर लेता है जो समाज के हित में होती है। समाज सम्मत इन मांगों को ही अधिकार कहते हैं। समाज से बाहर अधिकारों की सृष्टि नहीं होती है। अधिकार का मूलभूत आधार है — 'सामाजिक कल्याण का भाव' यदि से पारिभाषित करें तो कह सकते हैं कि साधारणतः कोई मनुष्य अपना विकास नहीं सकता। लास्की¹⁰ की यह परिभाषा भी विकास के पक्ष पर बल देती है। आगे हम भारतीय संविधान में वर्णित नागरिकों के मूल अधिकारों के विषय में चर्चा करेंगे।

भारतीय संविधान में वर्णित मूल अधिकार — भारतीय संविधान में मूल अधिकार¹¹ उन अधिकारों को कहा गया है जो व्यक्ति के जीवन के लिए मौलिक एवं अपरिहार्य होने के कारण संविधान द्वारा नागरिकों को प्रदान किये जाते हैं और जिनमें सामान्यता राज्य द्वारा हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता।

मौलिक कर्तव्य एवं शिक्षा :—“कर्मण्यवाधिकारों” की भावना को मूर्त रूप देने वाली भारतीय संस्कृति¹² को मूल आधार मानकर संविधान में कर्तव्यों की व्याख्या की गई है। शिक्षा द्वारा इन कर्तव्यों को व्यवहार रूप में लागू किया जा सकता है। शिक्षा कर्तव्यों को व्यवहार में परिणत करने के लिए सर्वप्रथम ज्ञान (तथ्यात्मक) प्रदान करती है। ज्ञान के आधार पर जागरूकता उत्पन्न¹³ होती है। परिणामस्वरूप व्यवहार परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। व्यवहार परिवर्तन का परिणाम कर्तव्य पालन के रूप में दिखाई देता है। जिससे मूल कर्तव्यों की व्यवहार में परिणति सशक्त होती है।

निष्कर्ष

निःशुल्क और अनिवार्य बाल शिक्षा का अधिकार अधिनियम के फलस्वरूप विभिन्न शासकीय विभागों को परस्पर समन्वय में कार्य करना होगा। अधिनियम की सफलता एवं प्रभावशीलता मुख्यतः समन्वय, स्थानीय निकायों की सक्रिय भूमिका, उचित मॉ. निटरिंग तथा शिकायतों के त्वरित निराकरण¹⁴ पर निर्भर करेगी। यह सच है कि बच्चों के विकास हेतु निःशुल्क और अनिवार्य बाल शिक्षा का अधिकार एक ऐतिहासिक पहल है, जो उन प्रतिभावान बच्चों को एक मजबूत मंच देता है। जो योग्य होते हुए भी आर्थिक मजबूरी के रहते शिक्षा के लाभ से वंचित रहते हैं। बस इस अधिकार को सकारात्मक रूप में लिया जाना चाहिए। आज देश आर. टी. ई. को आशा भरी नजरों¹⁵ से देख रहा है, ये आशा की किरन देश में नया सवेरा ला सकती है, बशर्ते इसे मात्र सैद्धांतिक रूप से सुदृढ़ न करते हुए व्यवहार रूप देने में भी उतनी मुस्तैदी दिखाएँ अपनी दृढ़ संकल्प शक्ति से। तब निश्चय ही भारत, एक दिन स्वयं को पूर्ण साक्षर¹⁶ राष्ट्रों की श्रेणी में पा सकता है।

संदर्भ सूची

1. बासु डी.डी.(2013) भारत का संविधान (एक परिचय) लेक्सिस नेक्सस नई दिल्ली
2. चव्हाण शेसराव (2002) दी कंस्टीटूशन ऑफ़ इंडियारू रोल ऑफ़ डॉ. के.एम. मुंशी भारतीय विद्या भवन
3. भारत का संविधान (2007) सेंट्रल लॉ पब्लिकेशन अलाहाबाद
4. कश्यप सुभाष (2011) हमारा संविधान नेशनल बुक ट्रस्ट
5. शर्मा मूल चंद राइट टू एजुकेशन इम्पेरेटिव फॉर प्रोग्रेस यूनिवर्सल लॉ पब्लिशिंग
6. शिक्षा का अधिकार मा सं वि मं भारत सरकार
7. नाईक जे पी (2006) भारत में प्राथमिक शिक्षा शेष संकल्प वाग्देवी प्रकाशन बीकानेर
8. घोष सुरेश सी (2007) हिस्ट्री ऑफ़ एजुकेशन इन इंडिया रावत पब्लिकेशन
9. कुमार कृष्ण (2013) राज समाज और शिक्षा राजकमल प्रकाशन
10. लॉस्की वी 1978 ऑर्थोडॉक्स थेओलोग्य अन इंट्रोडक्शन संत व्लादिमीर सेमिनरी प्रेस

डॉ. राहिल अहमद
सहायक आचार्य, राजनीति विज्ञान विभाग
रिडि सिद्धि विनायक महाविद्यालय,
जयपुर

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. A
Sr. 9, 2016
ISSN : 2277-419X

महिला सशक्तिकरण एवं संरक्षणात्मक प्रयास

किसी भी राष्ट्र, राज्य तथा समुदाय के सर्वोन्मुखी एवं सतत् विकास, प्रगति एवं उन्नति के लिए प्रत्येक वर्ग, आयु, धर्म, जाति, लिंग तथा सभी स्तर के लोगों की सक्रिय भागीदारी आवश्यक है। अतः जब तक महिलाएँ जागरूक होकर विकास की धारा में राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अपनी सक्रिय भूमिका तथा भागीदारी नहीं निभाती तब तक राष्ट्र का सर्वांगीण विकास संभव नहीं है। यह प्रकटतः तथ्य है कि प्रत्येक समाज में स्त्रियों और पुरुषों की सामाजिक स्थिति उनके आदर्शों और कार्यों के अनुसार निश्चित होती है। इन आदर्शों और कार्यों का निर्धारण उस समाज की संस्कृति करती हैं। संस्कृति ही यह निश्चित करती है कि पारिवारिक और सामाजिक जीवन में स्त्रियों और पुरुषों का महत्व कितना है और उनके क्या-क्या कार्य हैं। ये महत्व और कार्य ही यह निश्चित करते हैं कि समाज में स्त्रियों का स्थान पुरुषों के बराबर या नीचे होगा।¹ राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में महिलाओं की अहम् भूमिका को दृष्टिगत रखते हुए भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पं. जवाहर लाल नेहरू ने कहा था कि यदि जागृति पैदा करनी है तो पहले महिलाओं में जागृति पैदा करो। एक बार जब वे आगे बढ़ती हैं तो पूरा परिवार आगे बढ़ता है, गाँव तथा शहर आगे बढ़ता है, स्वयं सारा देश आगे बढ़ता है।

अनादिकाल से हमारे देश में परिस्थितियों के अनुसार समाज में समय-समय पर स्त्रियों की स्थितियों में परिवर्तन तथा उनके उत्थान के लिए मांग उठती रही है। आर्यों के भारत में आने के प्रारंभिक दिनों के पूर्व वैदिककाल में ही स्त्री तथा पुरुषों को समकक्ष माना जाता रहा था और यह स्थिति लगभग उत्तरवैदिक काल तक चलती रही।² इस दौरान स्त्रियाँ समाजिक, राजनैतिक, आर्थिक व धार्मिक कार्यों में पुरुषों के साथ बराबरी की भागीदारी करती रही हैं। हिन्दू शास्त्रों में भी उन्हें शक्ति प्रतीक दुर्गा, धन का प्रतीक लक्ष्मी, विद्या का प्रतीक सरस्वती

व अन्न का प्रतीक अन्नपूर्णा माना जाता रहा है। स्मृतिकाल में ब्राह्मण धर्म में कट्टरता के कारण पुरुषों में अधिकारों की प्राप्ति की लालसा ने स्त्रियों के अधिकारों का दायरा सीमित कर दिया और स्त्रियों को मात्र पुरुषों का आदेश मानने वाली अनुकरणीय बना दिया गया। उनको पुरुषों के अधीन रहना पड़ता था। उनको सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक क्षेत्रों में काम करने की स्वतंत्रता तथा घूमने पर प्रतिबंध था किन्तु खेतिहार, शिल्पी तथा कामगरो की स्त्रियां पुरुषों के समान कृषि, शिल्प, कला एवं मजदूरी आदि क्षेत्रों में स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करती थीं किन्तु उनको भी पुरुषों के अधीन ही काम करना पड़ता था। मध्यकाल तथा मुस्लिमकाल में स्त्रियों की स्थिति और गिर गई। यद्यपि इन बन्धनों के बावजूद इस युग में कुछ महिलाओं ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया यथा- रजिया सुल्तान, दुर्गावती, चांद बीबी, नूरजहाँ, ताराबाई आदि।

19वीं शताब्दी के पूर्वाद्ध में पाश्चात्य जगत के साथ बढ़ते हुए सम्पर्क तथा अन्य परिस्थितियों ने भारतीय समाज को झकझोर दिया। महिलाओं की राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए अनेक सामाजिक सुधारकों जैसे- राजा राममोहन राय, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर, ईश्वरचन्द विद्यासागर, स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, सर सैय्यद अहमद खाँ आदि ने महत्वपूर्ण प्रयास किये। इसके अतिरिक्त महिलाओं की राष्ट्रीय समिति, कस्तूरबा गाँधी राष्ट्रीय स्मारक समिति, ईसाई नवयुवक समिति, महिलाओं की भारतीय समिति, भारतीय स्त्री मण्डल जैसे अनेक संगठनों ने भी महिलाओं की स्थिति को उन्नत करने का प्रयास किया और इन सबके प्रयासों के फलस्वरूप सती प्रथा के विरुद्ध अधि नियम, विशेष विवाह अधिनियम, बाल विवाह निषेध अधिनियम, दहेज विरोधी अधि नियम बने। जिससे स्त्रियों की दशा में सुधार का मार्ग प्रशस्त हुआ। 19वीं शताब्दी में हुए इन प्रयत्नों के फलस्वरूप भारतीय महिलाओं में एक नई चेतना पैदा हुई। इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारतीय महिलाओं ने स्वाधीनता आन्दोलन में पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर काम किया, खासकर आन्दोलन के बाद के चरण में वे अधिक सक्रिय रहीं, जब स्वतंत्रता के लिए संघर्ष बहुत तेज हो गया था। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने हजारों महिलाओं को प्रेरित किया ताकि वे घर से बाहर निकल कर स्वतंत्रता की लड़ाई में योगदान करे। साथ ही उन्होंने इस बात पर दृढ़ता से बल दिया कि महिलाओं का उत्थान भारतीय समाज के पुनर्जागरण के लिए एक अनिवार्य शर्त है। इसलिए उन्होंने महिलाओं को अपने

उत्थान के साथ-साथ राष्ट्रीय आन्दोलन में हिस्सा लेने के लिए प्रेरित किया। स्वाधीनता आन्दोलन के इतिहास में हमारे पास वीरांगनाओं की एक लम्बी सूची है, यथा- बेगम हजरत महल, अरूणा आसफ अली, रानी गाइडिन्लू, एनी बेसेन्ट, प्रतिलता वाददेर, सरोजनी नायडू, कु. लक्ष्मीपति, मीरा बहन, नीलि सेन गुप्ता, भी. काजी कांमा, सुचेता कृपालानी, कस्तूरबा गाँधी आदि।³

आजादी के बाद के 67 बरसों में देश ने काफी आर्थिक, सामाजिक, सां. स्कृतिक और शैक्षिक प्रगति की है। इस विकास में महिलाओं का योगदान किसी भी मायने में पुरुषों से कम नहीं रहा है। मगर बहुमुखी विकास के इन लगभग सात दशकों के सफर के बाद भी 'बेटी बचाओं, बेटी पढ़ाओं' जैसी योजना की जरूरत महसूस होना एक भयावह सच्चाई की ओर इशारा करता है।⁴ समाज में अब भी महिलाओं को दोगले दर्जे का नागरिक माना जाता है। महिला उत्थान एवं कल्याण की तमाम योजनाओं के उपरान्त भी महिलाओं को पुरुषों के बराबर अधिकार दिलाने का राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी का सपना अधूरा प्रतीत होता है।

महिला स्थिति में सुधार के प्रयास एवं सशक्तिकरण की आवश्यकता

महिला सशक्तिकरण एवं महिला नेतृत्व का विचार समानता पर आधारित है, जो समाज के प्रत्येक स्तर पर लैंगिक समानता की अपेक्षा करता है। मानव समाज का इतिहास स्त्रियों को सत्ता, प्रभुता एवं शक्ति से दूर रखने का इतिहास है और इसीलिए प्रत्येक देश, काल, वर्ग, जाति एवं धर्म में महिलाओं को पुरुषों के समकक्ष न आने देने की संरचनात्मक व सांस्कृतिक बाध्यताएँ बनाई गई हैं।⁵ राजनीतिक मुद्दे के रूप में स्त्री अस्मिता, सशक्तिकरण एवं महिला नेतृत्व का प्रश्न पिछले कुछ दशकों में सार्वजनिक मंचों में एक महत्वपूर्ण प्रश्न के रूप में उठा है। संतुलित, अर्थपूर्ण सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक संरचना एवं विकास में आधी आबादी की सक्रिय सहभागिता की अपेक्षा नहीं, बल्कि उसे सुनिश्चित करने की आवश्यकता है। इस बात पर सामान्य सहमति उभर रही है। नारी सशक्तिकरण के अनेक निहितार्थ देखे गए हैं। सैद्धांतिक स्तर पर उदारवादी- नवउदारवादी, मार्क्सवादी-नवमार्क्सवादी, मानववादी, नारीवादी दृष्टियाँ उपलब्ध हैं।⁶ व्यावहारिक धरातल पर सामान्यतया सशक्तिकरण का अभिप्रायः सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं वैयक्तिक-सभी क्षेत्रों में प्रभावी हस्तक्षेप की क्षमता से लिया जाता है।⁷ इसके लिए संरचनात्मक स्तर पर संसाधनों तक पहुँच आवश्यक है एवं वैयक्तिक स्तर

पर चेतना, आत्मविश्वास एवं आत्मावलम्बन जरूरी है। उन कारणों की समीक्षा भी समीचीन हैं जो आम महिलाओं की शक्तिहीनता के मूल में हैं।

विगत कुछ वर्षों से परिदृश्य परिवर्तन हो रहा है महिलाओं ने ज्ञान-विज्ञान के हर क्षेत्र में अपनी सफलता के झण्डे गाड़े हैं। आज देश व दुनिया का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं, जहाँ महिलाओं ने अपनी उपस्थिति न दर्ज करायी हो। आज उसी का परिणाम है कि जब सरकार अंतिम पायदान पर खड़ी महिलाओं के लिए भी अपने विकास के मानदण्डों में बदलाव ला रही है। पहले महिलाओं के लिए सरकार के पास केवल कल्याणोन्मुखी योजनाएँ थी। बाद में विकास कार्यक्रमों को बढ़ावा दिया गया। लेकिन आज महिलाओं के सशक्तिकरण की बात हो रही है। आज महिलाओं को दया का पात्र समझने की बजाय प्रगति के मार्ग में समान भागीदार माना जाने लगा है। स्त्री शक्ति आज एक जाना पहचाना नाम है। कुछ स्वयंपेशी संगठनों ने इसे अपने ब्रांडनेम के तौर पर इस्तेमाल करते हुए अपने मिशन का नामकरण किया है। कुछ सरकारी कार्यक्रमों और प्रयासों में भी इसी नाम का उपयोग किया गया है। महिला और बाल विकास मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा स्थापित एक राष्ट्रीय पुरस्कार भी स्त्री शक्ति कहलाता है।⁸

महिला सशक्तिकरण : बढ़ते कदम

यह स्थापित तथ्य है कि किसी भी देश के समग्र विकास के लिए महिला व पुरुष दोनों का समान गति से निर्बाध रूप से उन्नति के पथ पर अग्रसर होना आवश्यक है। महिलाएँ समाज की अभिन्न अंग हैं अतः सामाजिक व आर्थिक विकास की संकल्पना महिलाओं के विकास व सशक्तिकरण के बिना अधूरी है। देश के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने भी महिलाओं के विकास को प्राथमिकता देते हुए कहा था कि, “यदि आपको विकास करना है तो महिलाओं का उत्थान करना होगा। महिलाओं का विकास होने पर समाज का विकास स्वतः ही हो जाएगा। महिलाएँ समाज की अभिन्न अंग हैं अतः सामाजिक व आर्थिक विकास की संकल्पना महिलाओं के विकास व सशक्तिकरण के बिना अधूरी है।”⁹ स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व, देश की अधिकांश महिलाएँ, विशेष तौर पर ग्रामीण गरीब महिलाएँ निरक्षर, रूढ़िवादी एवं परम्परागत बंधनों में जकड़ी हुई थी। स्वतंत्रता के पश्चात् सरकार ने ग्रामीण महिलाओं की सामाजिक-आर्थिक स्थिति में सुधार लाने, उनके समग्र व संतुलित विकास को सुनिश्चित करने व उनको विकास की मुख्यधारा में समावेशित करने हेतु अनेक विधायी उपाय, कल्याणकारी

योजनाओं व विकास कार्यक्रमों को मूर्त रूप प्रदान किया। इसके साथ ही संविधान में महिलाओं को परम्परागत बंधनों से विमुक्त करवाने के लिए विशेष रियायतों व प्रोत्साहनों का भी प्रावधान किया गया है।

महिला सशक्तीकरण की पहल सर्वप्रथम 1985 में नैरोबी में सम्पन्न अन्तर्राष्ट्रीय महिला सम्मेलन में की गई थी। इसके बाद विश्व के सभी भागों में इसने एक आंदोलन का रूप ले लिया। महिला सशक्तीकरण का सामान्य अर्थ है - महिला को शक्ति सम्पन्न बनाना। परन्तु व्यापकता में इसका अभिप्राय सत्ता-प्रतिष्ठानों एवं जीवन के सभी क्षेत्रों में महिलाओं की साझेदारी से है। निर्णय लेने की क्षमता सशक्तीकरण का एक बड़ा मानक कहा जा सकता है। इस प्रकार महिला सशक्तीकरण से तात्पर्य महिलाओं को पुरुषों के बराबर वैधानिक, राजनीतिक, शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में निर्णय लेने की स्वायत्तता से है।

महिला सशक्तिकरण के संबंध में ऑफिस ऑफ द यूनाइटेड नेशंस हाई कमिश्नर फॉर ह्यूमन राइट्स का कहना है कि “यह औरतों को शक्ति, क्षमता तथा काबिलियत देता है ताकि वे अपने जीवन स्तर को सुधारकर अपने जीवन की दिशा को स्वयं निर्धारित कर सकें। अर्थात् यह वह प्रक्रिया है जो महिलाओं को सत्ता की कार्यशैली समझने की न केवल समझ दे अपितु साथ ही साथ सत्ता के स्रोतों पर नियंत्रण कर सकने की क्षमता प्रदान करे।¹⁰ महिला सशक्तिकरण के प्रयासों को वैश्विक स्वीकृति के अनुक्रम में वर्ष 1975 में संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय महिला दशक 1975-1985 की घोषणा के साथ अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर महिला विकास हेतु विभिन्न आयोजन किये गये। इस क्रम में प्रथम विश्व महिला सम्मेलन (1975) मैक्सिको में, द्वितीय विश्व सम्मेलन (1980) कोपनहेगन में, तृतीय सम्मेलन (1985) नैरोबी में तथा चतुर्थ विश्व सम्मेलन (1995) बीजिंग में आयोजित किया गया।¹¹ संयुक्त राष्ट्र संघ ने इन महिला सम्मेलनों द्वारा महिला सशक्तिकरण की दिशा में महत्वपूर्ण योगदान देकर विश्व जनमत का ध्यान महिला सशक्तिकरण की ओर आकृष्ट किया। वर्तमान में भी इसके प्रयास निरन्तरता लिये हुए हैं और इसी ध्येय (महिला सशक्तिकरण) को दृष्टिगत रखते हुए महिला समानता, कल्याण, सुरक्षा, संरक्षण, लिंग न्याय, सामाजिक न्याय जैसे कितने ही नाम व वाद देने के पश्चात् संयुक्त राष्ट्र संघ ने अब विश्व की आधी जनसंख्या के रूप में जीवन जीती ‘महिला’ के समुचित विकास की बात

सहस्राब्दी विकास लक्ष्यों में की है और यह मान्यता अभिव्यक्त की है कि महिला को पुरुष के संदर्भ में समाज में राजनीतिक रूप से सशक्त किए बिना महिला जाति का पुरुष अधिशासित समाज में समग्र, सम्पूर्ण वाच्छित व इच्छित विकास संभव नहीं है। स्वतंत्रता के पश्चात् हमारे यहाँ जो लोकतांत्रिक प्रणाली अपनायी गई वह वैश्विक वयस्क मताधिकार पर आधारित है। नागरिकों को मिले समान अधिकारों के साथ ही भारतीय महिलाओं को समान शैक्षिक अवसर, संपत्ति और विरासत में बराबर का अधिकार प्राप्त हुआ, जिससे सामाजिक स्तर पर स्त्रियों की स्थिति में सुधार आया, लेकिन राजनीतिक मानचित्र फिर भी नहीं बदला। राजनीति के क्षेत्र में लंबे समय से पुरुषों का वर्चस्व कायम रहा है।¹² जबकि सामाजिक, आर्थिक सशक्तिकरण के लिये राजनीतिक सशक्तिकरण अति आवश्यक है क्योंकि माना जाता है कि राजनीतिक नीति-निर्माण की प्रक्रिया में महिलाओं को सहभागी बनाकर ही उनका वास्तविक सशक्तिकरण किया जा सकता है।

राजनीति में महिला सशक्तिकरण एवं महिला नेतृत्व की आवश्यकता वास्तव में देश का सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक विकास महिलाओं की भागीदारी के बिना पूरा नहीं हो सकता, क्योंकि महिला नेतृत्व महिला होने के नाते महिलाओं के प्रति ज्यादा संवेदनशील होती है। अतः केवल महिलाएँ ही महिलाओं के मत और महिला तथा बच्चों की समस्याओं का प्रभावशाली तरीके से पर्याप्त समाधान कर सकती हैं और बहुत से विकास के लाभ जो महिलाओं एवं बच्चों के लिए संभव हैं, सुरक्षित रख सकती हैं। लोकतान्त्रिक व्यवस्था के वास्तविक सफल एवं सुचारू संचालन हेतु आवश्यक एवं महत्वपूर्ण है कि शासन में समस्त जनता की समान एवं सक्रिय भागीदारी हो। महिलाओं से सम्बन्धित समस्याओं के समाधान हित एवं विकास सम्बन्धी नीतियों, निर्णयों एवं कानूनों के निर्माण एवं क्रियान्वन उनकी आवश्यकताओं, आकांक्षाओं, सोच एवं दृष्टिकोण के अनुरूप एवं अनुकूल होने के लिए भी महिलाओं की राजनीति में भागीदारी आवश्यक एवं महत्वपूर्ण है। महिलाओं की राजनीति में भागीदारी से ही वास्तविक सामाजिक समानता, समान सहभागिता तथा लोकतंत्र के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। अतः महिलाओं की राजनीति में भागीदारी आवश्यक एवं महत्वपूर्ण है।

महिलाओं की स्थिति की विवेचना करने के लिए तत्कालीन सरकार ने 22 सितंबर, 1971 को एक समिति का गठन किया। 'टुवाडर्स इक्वालिटी' शीर्षक से 1974 में प्रकाशित इस समिति की रिपोर्ट में कहा गया था कि "संस्थागत तौर

पर सबसे बड़ी अल्पसंख्यक होने के बावजूद राजनीति पर महिलाओं का असर नाममात्र है।” इस संबंध में समिति ने सुझाव दिया था कि इसका उपाय यही है कि हर राजनीतिक दल महिला उम्मीदवारों का एक कोटा निर्धारित करे, और संविधान में संशोधन के माध्यम से नगर परिषदों और पंचायतों में महिलाओं के लिए सीटें आरक्षित कर सरकार ने ऐसा किया भी।¹³ पंचायतीराज संस्थाओं में महिलाओं के लिए 33 प्रतिशत आरक्षण का प्रावधान महिला सशक्तिकरण तथा निर्णय प्रक्रिया में उनकी सहभागिता में वृद्धि की दिशा में एक क्रांतिकारी कदम था। आरक्षण का अभिप्राय समाज में शोषण व असमानता का शिकार रही जनसंख्या को सरंक्षात्मक अवसर देना है जिससे वे भविष्य में निर्णय प्रक्रिया का हिस्सा बनें और कालांतर में स्वयं को लोकतांत्रिक शक्ति का एक महत्वपूर्ण एवं सक्रिय हिस्सा मानें। अगर महिलाओं को संसद तथा विधानमंडल में आरक्षण प्राप्त होगा तो एक तरफ महिलाएँ चुनाव प्रक्रिया का हिस्सा बनेगी और दूसरी तरफ राजनीतिक दलों में सक्रिय सहभागिता का अवसर प्राप्त होगा, जिससे महिला सशक्तिकरण की अवधारणा मूर्त रूप ग्रहण कर सकेगी। यह आरक्षण उन्हें संकीर्ण व सीमित दायरे से बाहर लाने में मददगार सिद्ध होगा।

भारत में किसी राजनीति दल ने महिला आरक्षण के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण रखने के बावजूद इस दिशा में कोई ठोस कदम नहीं उठाया है। उनकी इस नकारात्मकता के कारण ही संसद में महिलाओं का आरक्षण विधेयक पारित नहीं हो पाया है। सबसे मजबूत और विशाल लोकतंत्र का दावा करने वाले हमारे देश के संसद में महिलाओं का प्रतिनिधित्व मात्र 8.3 प्रतिशत है। ये आंकड़े पुरुष प्रधान समाज में महिलाओं के नेतृत्व की अस्वीकार्यता की संकीर्ण मानसिकता को उजागर करते हैं। राजनीति में महिलाओं के प्रतिनिधित्व के मामले में भारत अपने पड़ोसी देश पाकिस्तान, बांग्लादेश और नेपाल से भी पीछे है।¹⁴ यह जानकारी 100वें अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस के अवसर पर संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम द्यूएनडीपीए द्वारा पेश की गई एक अहम रिपोर्ट में दी गई। यह रिपोर्ट एशिया और प्रशांत क्षेत्र में महिलाओं की स्थिति पर केंद्रित है। यूएनडीपी के स्थानीय प्रतिनिधि पेट्रिस कोडर बिजॉट ने कहा कि भारत में महिलाओं को विभिन्न क्षेत्रों में प्रतिनिधित्व मिलता है और उन्हें संवैधानिक अधिकार भी प्राप्त हैं, लेकिन इसके साथ वह हिंसा और उपेक्षा की शिकार भी हैं। भारत में महिलाओं को स्थिति में सुधार के लिए हमें उन्हें राजनीति में अधिक प्रतिनिधित्व देना होगा। इस हेतु

आवश्यकता है कि उन्हें अधिकाधिक संवैधानिक एवं कानूनी प्रावधानों द्वारा संरक्षणात्मक बल प्रदान किया जायें।

भारत में महिलाओं के सशक्तिकरण हेतु संवैधानिक एवं कानूनी प्रयास

भारत में आजादी की लड़ाई के पश्चात् नीति-निर्माताओं और संविधान विशेषज्ञों ने महिलाओं के पिछड़ेपन के मर्म को समझा और उनकी सहभागिता देश के लिए महत्वपूर्ण ही नहीं वरन् आवश्यक है, मानकर संविधान में बराबरी का दर्जा दिया। इसके पीछे संविधान निर्माताओं की मंशा महिलाओं को सशक्त बनाने की रही है। भारतीय संविधान न केवल महिला-पुरुष समानता पर बल देता है बल्कि महिला सशक्तीकरण का एक सुनियोजित मार्गदर्शन भी प्रस्तुत करता है।

महिलाओं से जुड़े संवैधानिक उपबंध और अधिनियम

भारतीय संविधान की प्रस्तावना में उल्लेखित उद्देश्य जो सभी नागरिकों को समाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, विचार, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समानता प्रदान करते हैं, जिसमें महिला अधिकारों के भाव व्याख्या स्वरूप स्पष्ट दिखाई देते हैं। इससे महिला सशक्तिकरण का महत्वपूर्ण आधार भी तैयार होता है। भारत में महिलाओं की संख्या लगभग 586 मिलियन है जोकि कुल आबादी का लगभग 48.5 प्रतिशत बैठता है। केन्द्र सरकार ने सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन के सभी पक्षों में लैंगिक समानता सुनिश्चित करने की दिशा में उनके क्रान्तिकारी कदम उठाए हैं। राष्ट्र की मुख्यधारा में महिलाओं को सम्मिलित करने के लिए जिस वातावरण के निर्माण की आवश्यकता होती है भारतीय संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों में उसकी रूपरेखा निम्न प्रकार परिलक्षित होती है¹⁵—

- ❖ अनुच्छेद 14 - राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में समान अधिकार एवं अवसर पर बल।
- ❖ अनुच्छेद 15-लिंग के आधार पर भेदभाव वर्जित।
- ❖ अनुच्छेद 15(3)-महिलाओं के पक्ष में सकारात्मक दृष्टिकोण।
- ❖ अनुच्छेद 16-लोक नियोजन में अवसर की समानता।
- ❖ अनुच्छेद 19-विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता।
- ❖ अनुच्छेद 21-प्राण एवं दैहिक स्वतंत्रता।
- ❖ अनुच्छेद 23-बलात्, बेगार और दुर्व्यवहार की मनाही।

- ❖ अनुच्छेद 24-14वर्ष से कम आयु के बालक/बालिका के नियोजन की मना. ही।
- ❖ अनुच्छेद 39-समान रूप से जीविका, समान वेतन एवं गरिमामय वातावरण का निर्माण।
- ❖ अनुच्छेद 42-काम की न्यायसंगत, मानवोचित दशाओं का निर्माण तथा प्रसू. तिकाल में सहायता।
- ❖ अनुच्छेद 47-स्वास्थ्य एवं जीवन-स्तर में सुधार।
- ❖ अनुच्छेद 51 क ढ्डङऱऱ-महिलाओं के सम्मान के विरूद्ध जारी प्रथाओं का त्याग एवं समरसता एवं भातृत्व की भावना का विकास।
- ❖ अनुच्छेद 243 घ-पंचायतों में विभिन्न वर्गों की महिलाओं का आरक्षण।
- ❖ अनुच्छेद 243 न- बिना भेदभाव नगरपालिकाओं में विभिन्न वर्गों की महिलाओं का आरक्षण।
- ❖ अनुच्छेद 325-भेदभाव बिना निर्वाचक नामावली में सम्मिलित होने का अधि कार।
- ❖ अनुच्छेद 226-वयस्क मताधिकार।

संवैधानिक उपबंधों के अतिरिक्त महिलाओं की स्थिति में सुधार लाने के लिए अधिनियमों का प्रयोग औपनिवेशक काल से ही किया गया। उनसे जुड़ी सामाजिक कुरीतियों को दूर करने में शुरूआती प्रयासों के तौर पर विधवा पुनर्विवाह अधि नियम (1856), बाल विवाह निषेध अधिनियम (1925) और शारदा एक्ट (1929) अंग्रेजी हुकमत द्वारा क्रियान्वित कर समाज को जागरूक बनाने में एक कदम था। इन अधिनियमों से यद्यपि कोई विशेष सफलता तो प्राप्त नहीं हुई परन्तु ये अधि नियम महिलाओं के पिछड़ेपन को दूर करने में प्रेरणास्त्रोत साबित हुए। इससे पूर्व भारतीय समाज में महिलाएँ न केवल पिछड़ी हुई थी बल्कि भेदभाव में उनका दर्जा दलितों के समान था, यह मान्यता सर्वव्याप्त थी कि स्त्री स्वभावतः पुरुष से हीन होती है, अतः पुरुष की अधीनता में रहने में उसका कल्याण है।¹⁶ पुरुष प्रधान समाज में महिलाओं को घर की चारदीवारी में कैद करके सुनियोजित तरीके से अलग-थलग करने की जो नीतियां अहम स्वरूप चलाई गयी थी उन्होने सामाजिक संगठन में महिलाओं को सबसे निचले पायदान पर लाकर खड़ा कर दिया था। इस मर्म को आजादी के पश्चात् राष्ट्र के नीति-निर्माताओं एवं संविध

इन विशेषज्ञों ने गहराई से समझा और यह पाया कि महिलाएँ अपने कारण नहीं वरन् सामाजिक व्यवहार के कारण पिछड़ रही हैं। जब तक सामाजिक परिवेश को बदलकर न्यायोचित एवं मानवोचित परिस्थितियों को निर्माण नहीं कर दिया जाता तब तक न तो महिलाओं की दशा सुधारी जा सकती है और न ही राष्ट्र के विकास में उनके बेहतर योगदान की अपेक्षा की जा सकती है।

इन्हीं सब विषयों को ध्यान में रखकर स्वतंत्रता पश्चात् महिला उन्मुख वातावरण के निर्माण पर बल दिया गया। साथ ही महिलाओं के प्रति सोच में बदलाव लाने के लिए अधिनियमों का निर्माण एवं क्रियान्वयन किया गया जिसमें कतिपय प्रमुख अधिनियम हैं-

- ❖ न्यूनतम मजदूरी अधिनियम (1948)
- ❖ विशेष विवाह अधिनियम (1954)
- ❖ हिन्दू विवाह अधिनियम (1955)
- ❖ स्त्रियों और कन्याओं का अनैतिक व्यापार निरोधक अधिनियम, 1956
- ❖ हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम (1995) सन् (2005) में संशोधित
- ❖ कारखाना अधिनियम (1958), सन् 1986 में संशोधित
- ❖ दहेज निषेध अधिनियम (1961), सन् 2012 में संशोधित
- ❖ प्रसूति-प्रसुविधा अधिनियम (1961)
- ❖ भारतीय विवाह विच्छेद अधिनियम (1969)
- ❖ गर्भावस्था समापन चिकित्सा अधिनियम, 1971
- ❖ बाल विवाह निषेध अधिनियम, 1976
- ❖ दहेज प्रतिषेध (वर-वधू भेंट सूची) नियम, 1985
- ❖ महिलाओं का अशिष्ट रूपण (प्रतिषेध) अधिनियम, 1986
- ❖ वैश्यावृत्ति निवारण अधिनियम, 1986 : महिलाओं को अनैतिक कार्यों में दुरुपयोग करने वालों पर प्रतिबंध।
- ❖ सती (निवारण) अधिनियम, 1987
- ❖ महिलाओं के प्रसव पूर्व निदान तकनीकी (विनियम एवं दुरुपयोग प्रतिषेध) अधिनियम, 1994
- ❖ भारतीय तलाक संशोधन अधिनियम (2001)

- ❖ घरेलू हिंसा से महिलाओं का संरक्षण अधिनियम (2005)
- ❖ महिलाओं का यौन उत्पीड़न (रोकथाम, प्रतिषेध और निवारण) विधेयक (2012)
- ❖ महिलाओं के खिलाफ जघन्य यौन अपराध विधेयक (2013) मुख्य हैं। महिला श्रम अधिकार के संबंध में कुछ अधिनियम निम्नलिखित हैं:
- ❖ कारखाना अधिनियम, 1948
- ❖ खान अधिनियम, 1952
- ❖ कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, 1948
- ❖ समान पारिश्रमिक अधिनियम, 1976
- ❖ कारावास अधिनियम, 1894
- ❖ दीवानी प्रक्रिया संहिता, 1908
- ❖ घरेलू हिंसा से महिलाओं का संरक्षण अधिनियम, 2005 (एक्ट 43)
- ❖ बगान श्रम अधिनियम, 1951
- ❖ बीड़ी या सिगार कर्मचारी अधिनियम, 1966
- ❖ ठेकाश्रम अधिनियम, 1970
- ❖ चूना पत्थर और डोलोमाईट खान श्रमिक कल्याण अधिनियम, 1972
- ❖ लोहा मैगनीज एवं अयस्क खान श्रमिक कल्याण निधि अधिनियम, 1976
- ❖ बीड़ी कर्मकार कल्याण निधि अधिनियम, 1976
- ❖ केन्द्रीय सिविल सेवा आचरण नियम, 1964

महिलाओं की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक पहचान के बीच घनिष्ठ संबंध होने की सच्चाई को स्वीकार करने के समग्र और वृहद् दृष्टिकोण से महिलाओं के सशक्तिकरण के बारे में आशा को बल मिलता है। यह बात अब सर्वथा स्वीकार की जा रही है कि ये तीनों आपस में ऐसी जुड़ी है कि एक भी आयाम के कमजोर होने अथवा अनुपस्थित होने से अन्य अंगों द्वारा जनित संवेग ज्यादा समय तक बना नहीं रह सकता। जब इन तीनों कारकों पर एक साथ काम होगा और तीनों को एक-दूसरे के अनुकूल बनाया जाएगा, तभी महिलाएँ वास्तव में सशक्त बन सकेंगी।¹⁷ इसमें कोई सन्देह नहीं कि महिलाओं को अधिकार सम्पन्न बनाने एवं उनके सशक्तिकरण हेतु जो संवैधानिक एवं कानूनी प्रयास किये गये हैं, यदि उनकी पालना में लिंगगत भेदभाव की संभावना को शून्य कर

दिया जाये तो महिलाएँ वास्तविक रूप से सशक्त हो सकेंगी।

संदर्भ सूची

1. ममता मोहन, सशक्तीकरण : एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण, योजना, अंक 6, जून-2012, वर्ष 56, नई दिल्ली, पृ.सं. 43
2. सुनील महावर, मानवाधिकार एवं महिला उत्पीड़न विधिक परिप्रेक्ष्य, आविष्कार पब्लिशर्स, जयपुर, 2013, पृ.सं. 33
3. शैलेन्द्र मौर्य, महिला राजनैतिक नेतृत्व एवं महिला विकास, पोइन्टर पब्लिशर्स, जयपुर, 2011, पृ.सं. 11
4. पार्थिव कुमार, बेटियों को उनका हक देकर ही बढ़ेगा देश, कुरुक्षेत्र, वर्ष 61, अंक-05, मार्च-2015, पृ.सं. 12
5. आशा कौशिक द्वसं.ऋ, नारी सशक्तिकरण : विमर्श एवं यथार्थ, पोइन्टर पब्लिशर्स, जयपुर, 2004, पृ.सं. 3
6. विस्तृत देखें, वी.एन. सिंह व जनमेजय सिंह, नारीवाद, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, 2012
7. आशा कौशिक, भारत में महिला सशक्तिकरण : दशा एवं दिशा, महिला सशक्तिकरण क्यों और कैसे (सं. भगवती स्वामी एवं सविता किशोर), आर.बी.एस.ए. पब्लिशर्स, जयपुर, 2008, पृ.सं. 36
8. रश्मि सिंह, स्त्री शक्ति-महिला सशक्तिकरण, योजना, वर्ष-56, अंक-6, जून-2012, पृ.सं. 40
9. अनिता मोदी, ग्रामीण महिला सशक्तिकरण : सरकारी प्रयास एवं चुनौतियाँ, कुरुक्षेत्र, अंक 5, मार्च, 2015, वर्ष 61, नई दिल्ली, पृ.सं. 28
10. अजय कुमार सिंह, राजनीति में महिला नेतृत्व : महिला सशक्तिकरण की नयी परिभाषा, योजना, वर्ष-56, अंक-6, जून-2012, पृ.सं. 47
11. सुनील महावर, वही, पृ.सं. 22-24
12. अजय कुमार सिंह, वही, पृ.सं. 48
13. उपर्युक्त, पृ.सं. 49
14. <http://www.ipu.org/wmn-e/classif.htm>
15. संतोष कुमार सिंह, महिला सशक्तिकरण एवं सरकारी प्रयास, कुरुक्षेत्र, मार्च-2007, पृ.सं. 25-26
16. ओम प्रकाश गाबा, राजनीतिक विचारक विश्वकोष, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1993, पृ.सं. 14
17. रश्मि सिंह, वही, पृ.सं. 42



अनामिका यादव
शोध छात्रा
कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. A
Sr. 9, 2016
ISSN : 2277-419X

समाज की आधारशिला अहिंसा

इस समाजवादी युग में व्यक्ति और वैयक्तिकता की अपेक्षा समाज और सामाजिकता—ये शब्द अधिक प्रिय बने हुए हैं। अहिंसक व्यक्ति निर्माण की अपेक्षा अहिंसक समाज रचना में अधिक आकर्षण है। महात्मा गांधी के अस्तित्व के पश्चात् ये शब्द और अधिक मिठास से भर गए हैं। समाजवादी अवधारणा के आधार पर समाज का निर्माण हुआ। उसके सामने व्यक्ति निर्माण का प्रश्न उपस्थित हुआ। समाज रचना के बदल जाने पर भी व्यक्ति नहीं बदल रहे हैं, फलतः समाज कठिनाइयों का अनुभव कर रहा है। अपराध, हत्या, अन्याय और क्रूरतापूर्ण व्यवहार समाज नहीं करता, व्यक्ति करता है। नियंत्रण सामाजिक हो सकता है किन्तु आचरण वैयक्तिक होता है। नियंत्रण और आचरण— इन दोनों में एकता स्थापित हो जाए तो सचमुच नए समाज रचना की बात सोची जा सकती है।

अहिंसक समाज रचना की पहली शर्त है — हृदय परिवर्तन। वह हमारी दुनिया की सबसे जटिल समस्या है। कानून और दंड व्यवस्था को सामूहिक बनाया जा सकता है। हृदय परिवर्तन को सामूहिक नहीं बनाया जा सकता। उसके लिए कोई कानून या दंड व्यवस्था नहीं हो सकती। उसका आधार एकमात्र व्यक्ति की अपनी इच्छा है। इस स्वेच्छा को आधार पर कुछ व्यक्ति बदल सकते हैं, समाज का एक भाग बदल सकता है। इस असहजता का कारण है— मानवीय प्रकृति।

मैत्री और प्रेम में विश्वास करने वाले लोगों की अपेक्षा घृणा में विश्वास करने वाले लोगों की अपेक्षा घृणा में विश्वास करने वाले लोगों की संख्या कहीं अधिक है। त्याग के प्रति समर्पित लोग कितने हैं? भौतिकता के प्रति समर्पित लोगों की भीड़ है। स्वेच्छा से सम्पत्ति की सीमा करने वाले लोग बहुत कम हैं। अर्थ की अंधी दौड़ में सारा समाज भाग रहा है। प्रशिक्षण के द्वारा लोगों को बदला जा सकता है। अहिंसा और अपरिग्रह की दिशा में प्रशिक्षण किया जा सकता है। आदमी को व्यवहार से पहचाना जाता है। मानसिक संतोष और असंतोष, मानसिक तनाव और

मानसिक तनाव से मुक्ति—ये जितने बुद्धि से जुड़े हुए नहीं हैं, उतने हमारे व्यवहार से जुड़े हुए हैं।

जीवन के मुख्य रूप से तीन पक्ष हैं — 1. नियन्त्रण, 2. ज्ञान, 3. आनन्द। एक स्वस्थ, शांत और संतुलित जीवन जीने के लिए पहली बात है नियंत्रण ही क्षमता। दूसरी बात है— ज्ञान की क्षमता। ज्ञान के उसके सारे पक्ष आ जाते हैं, समझ, अंडरस्टैंडिंग, अवधारणा आदि—आदि। तीसरी बात है— आनन्द की अनुभूति। ये तीन बातें अगर हमारे बौद्धिक विकास के साथ नहीं होती हैं तो जीवन खतरनाक बन जाता है।

एक कार आ रही थी। चौराहे पर सिपाही खड़ा था। उसने कार का रोका ठहरो! ड्राईवर बोला— क्यों किसलिए? सिपाही ने कहा—लाइट नहीं है, गाड़ी कैसे चला रहे हो? वह बोला— तुम पीछे हट जाओ, इसमें ब्रेक भी नहीं हैं। कितना बड़ा खतरा होता है जब लाइट भी नहीं होती और ब्रेक भी नहीं होता है। जिस जीवन में लाइट भी नहीं होती और ब्रेक भी नहीं होता, वह जीवन कार की भांति खतरनाक बन जाता है। बहुत जरूरी होता है जीवन में प्रकाश और बहुत जरूरी होता है जीवन में नियन्त्रण। ये दोनों होते हैं तो जीवन में आनन्द की अनुभूति होती है।

एक स्वस्थ, शांत और संतुलित जीवन जीने के लिए पहली शर्त है— नियंत्रण की क्षमता को विकसित करना होगा। अपनी नियन्त्रण की क्षमता को बढ़ाना होगा। अभी इतना गुस्सा मत करो, इतना क्रोध मत करो। यह आवाज भीतर में कहां से आती है? यह उस प्रणाली से आती है जो नियंत्रक प्रणाली है, जो साथ—साथ में नियन्त्रण करती है। हमारी जितनी वृत्तियां हैं, जितने आवेग हैं, जितने इमोशनस और पेशंस हैं, उनके साथ उन सबकी नियन्त्रण की प्रणालियां भी काम कर रहीं हैं।

प्रश्न होता है— क्या इसका विकल्प नहीं है? विकल्प हमारे भीतर है। आनन्द का विशुद्ध विकल्प हमारे भीतर है। अगर हम भीतर के आनन्द को नहीं जागाएंगे तो नशे में जाना पड़ेगा। कोई उपाय नहीं है। इसे कभी रोका नहीं जा सकता। अगर भीतर के आनन्द को जगा लें तो फिर नशे में जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। अतीत और भविष्य से मुक्त होकर वर्तमान में जीना आनन्द के स्रोत को प्रकट करने का साधन है। भूत और भविष्य इन दोनों से हटकर यदि वर्तमान की धारा में चल सकें तो इतना आनन्द उद्भूत होगा कि फिर नशा करने की कोई जरूरत नहीं पड़ेगी।

जहाँ से समस्याएं आती हैं, वहां से समाधान भी आता है। अगर हम समस्याओं को वर्गीकृत करें तो दो प्रकार की समस्याएं सामने आती हैं— यथार्थ की समस्या और कल्पना की समस्या। इन दोनों समस्याओं से मनुष्य घिरा रहता है। जितनी

भौतिक समस्याएं हैं, आर्थिक समस्याएं हैं, वे यथार्थ की समस्याएं हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि ध्यान के द्वारा इनका सीधा समाधान हो जाएगा। खेती किए बिना पेट नहीं भरेगा। जो भौतिक समस्याएं हैं, पदार्थ की समस्याएं हैं, उनका समाधान श्रम और बुद्धि के द्वारा होगा।

काल्पनिक समस्याएं मानसिक समस्याएं हैं। मनुष्य केवल यथार्थ की समस्याओं से ही घिरा नहीं है किन्तु मानसिक समस्याओं से भी वह पीड़ित है। गलत मान्यताएँ, गलत धारणाएँ, गलत सामाजिक मूल्य— ये सब मानसिक समस्याएं हैं। दहेज की समस्या, मिलावट की समस्या और इस प्रकार की जितनी भी समस्याएं हैं, मानसिक समस्याएं हैं। ऐसे मापदण्ड बना लिए हैं, ऐसे मूल्य निर्मित कर लिए हैं, जिनकी पूर्ति के लिए बहुत कुछ भुगतना पड़ता है।

यथार्थ की समस्या और मानसिक समस्या के साथ जुड़ी है— भावनात्मक समस्या। ध्यान का मुख्य प्रयोजन मानसिक एवं भावनात्मक समस्याओं को सुलझाना है। यह मानना समीचीन नहीं है कि ध्यान के द्वारा सब कुछ सुलझ सकता है या धन के द्वारा सब कुछ हो सकता है। दोनों की अपनी सीमाएं हैं।

दुःख का कारण

कुछ लोग ऐसे हैं, जिनके सामने भैतिक समस्याएं नहीं हैं, आर्थिक समस्याएं नहीं हैं, किन्तु वे मानसिक एवं भावनात्मक समस्याओं से ग्रस्त हैं। मैंने हिन्दुस्तान के प्रसिद्ध उद्योगपति को अपने सामने रोते हुए देखा और अत्यन्त संवेदनात्मक तरीके से रोते हुए देखा है। उनके दुःख का देखकर किसी भी व्यक्ति के मन में करुणा आ सकती है। मैंने सोचा— यह क्या? कोई आर्थिक समस्या नहीं, कोई यथार्थ की समस्या नहीं, किन्तु भावनात्मक समस्या बहुत प्रबल है। यही दुःख है और दुःख का कारण है।

कलकत्ता में हिन्दुस्तान के अति समृद्ध उद्योगपति की पत्नि आचार्यश्री के पास आईं। बातचीत के मध्य उसके कहा— आचार्य! मैं आप से मार्गदर्शन लेने आई हूँ। आचार्य श्री ने कहा बोलो क्या बात है? उस बहिन ने बिलखते हुए कहा आचार्य! इस दुनिया में मैं जितनी दुःखी हूँ उतना शायद दूसरा कोई नहीं है। आप शान्ति एवं सुख का मार्ग सुझाएं। आचार्य यह सुनकर दंग रह गए।

ध्यान का मुख्य प्रयोजन

जिनके पास अरबों की सम्पत्ति है, बड़े-बड़े कारखाने हैं और वे कहते हैं— हम जितने दुःखी हैं, दुनियां में उतना कोई दुखी नहीं है। यह सुनकर बड़ा आश्चर्य

होता है। यह यथार्थ की समस्या नहीं है, यह मानसिक या भावनात्मक समस्या है। वृत्तियों को बदलना, गलत मान्यताओं को बदलना, यह ध्यान का मुख्य प्रयोजन है। आजकल ऐसा कहा जाता है कि ध्यान करो— ब्लडप्रेसर संतुलित हो जाएगा, रक्त चाप ठीक हो जाएगा, अमुक बीमारी मिट जाएगी, यह हो जाएगा वह हो जाएगा। मेरी दृष्टि में यह ध्यान को भटकाने वाली बात है। यह ध्यान का मुख्य प्रयोजन नहीं है। बहुत सारी बीमारियाँ और विशेषतः जो साइकोसोमेटिक बीमारियाँ हैं, वे ध्यान से बहुत मिटती हैं, किन्तु यह ध्यान का मुख्य प्रयोजन नहीं है। यह गौण बात है। आचार्य भिक्षु कहा करते थे— मनुष्य खेती करेगा अनाज के लिए। जब अनाज होगा तो साथ में पलाल भी होगा, तूड़ी भी होगी, अन्य कई चीजें भी उसके साथ स्वतः निष्पन्न होगी। किन्तु वे प्रासंगिक हैं। मुख्य बात है— अनाज का पैदा होना। इसी प्रकार ध्यान का मुख्य प्रयोजन है— अपने चित्त को पवित्र बनाना, निर्मल बनाना, धारणाओं को सम्यक् करना दृष्टिकोण सम्यक् करना। जब दृष्टिकोण बदलता है और भी बहुत सारी चीजें बदल जाती हैं।

काल्पनिक समस्याएं, मानसिकता समस्याएं हैं। ये ध्यान के द्वारा बदल जाती हैं। मानसिक और भावनात्मक समस्या— इन दोनों को मिटाने के लिए कोई पदार्थ काम नहीं देता। दुनियां में दूसरा कोई साधन नहीं है। अपने चित्त को व्यवस्थित करना, नियोजित करना और दृष्टिकोण को सम्यक् बनाना ही इसका एकमात्र उपाय है।

बहुत सारी दार्शनिक समस्याएं भी आती हैं। पुनर्जन्म एक दार्शनिक समस्या है। पूर्वजन्म, आत्मा, परमात्मा—ये भी दार्शनिक समस्याएं हैं। पर इस समस्याओं में ज्यादा उलझन नहीं है। जो पदार्थ सूक्ष्म हैं, हमारी बुद्धि से परे हैं, उन्हें हम समझने का प्रयत्न कर सकते हैं। समझ में न आए तो भविष्य में समझने के लिए छोड़ सकते हैं। किन्तु इनमें उलझने की जरूरत नहीं होती।

अहिंसा के दो रूप हैं—नैश्चयिक और व्यावहारिक। नैश्चयिक अहिंसा केवल व्यक्ति की अन्तश्चेतना से संबंध रखती है। वह नितान्त वैयक्तिक होती है। व्यावहारिक अहिंसा की साधना समाज के संदर्भ में होती है। हजारों हजारों आदमी एक साथ रहें और दूसरों को क्षति न पहुंचाएँ। यह बात समाज की जड़ को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न है। ऐसा प्रयत्न हो रहा है दूसरों की विपन्न बनाकर अपने आपको सम्पन्न बनाने की मनोवृत्ति से समाज की नींव कमजोर होती है। ऐसा कुछ हो रहा है। इसलिए कुछ विचारकों के मन में अहिंसक समाज रचना की कल्पना ने जन्म लिया। वह कल्पना बुरी नहीं है। स्वास्थ्य बिगड़ जाने पर दवा देकर स्वास्थ्य को ठीक करने जैसी प्रवृत्ति है। वास्तव में स्वास्थ्य मनुष्य के शरीर का ही प्रयत्न है।

रोग प्रतिरोधक शक्ति स्वयं स्वास्थ्य है। उसकी कमी रुग्णता है। दूसरों के आँसुओं पर अपनी स्निग्धता को न बढ़ाने को संकल्प समाज को रोग प्रतिरोधक शक्ति है। यदि इस शक्ति का पुनर्जागरण किया जा सके तो समाज स्वस्थ बन जाएगा। यही है अहिंसक समाज की रचना।

मैं मानती हूँ कि सब लोग सामाजिक स्वास्थ्य का मूल्यांकन नहीं करते। फिर भी इस दिशा में एक जागरूकता पूर्ण प्रयत्न आवश्यक है। उसके अभाव में घोर अंधकार की कल्पना ही की जा सकती है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. अहिंसा का अछूते संदर्भ, आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं

डॉ. नम्रता स्वर्णकार
विभागाध्यक्ष, सहायक आचार्य
ललित कला, विभाग
ज.ना.व्या.विश्वविद्यालय जोधपुर

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. A
Sr. 9, 2016
ISSN : 2277-419X

मारवाड़ के भित्ति चित्रों में नाथ संप्रदाय : एक कलात्मक अभिव्यक्ति

जोधपुर मारवाड़ के शासक राजा मानसिंह जिनका शासन काल सन् 1803–1843 ईस्वी तक रहा है।¹ इनका समय नाथ सम्प्रदाय के विकास का स्वर्ण कालमाना जाता है। स्वयं महाराजा नाथ सम्प्रदाय के परम अनुयायी रहे हैं। महाराजा मानसिंह के गुरु नाथपंथी आयस देवनाथ थे।² आयस देवनाथ की भविष्यवाणी से महाराजा मानसिंह को मारवाड़ का राज्य मिला था।³ शासक बनने पर महाराजा मानसिंह ने मारवाड़ क्षेत्र में अनेक नाथ-मंदिरों व मठों का निर्माण करवाया, जिनमें महामंदिर व उदयमंदिर मारवाड़ के प्रमुख नाथ मंदिर हैं।

महामंदिर व उदयमंदिर में गृहस्थ नाथ साधुओं के रहने के लिए दुर्गनुमा विशाल हवेलियों का निर्माण भी किया गया था अतः ये स्थान 'आसन-मठ' भी कहे जाते हैं।

ये दोनों आसन (मन्दिर) स्थापत्य शिल्प व भित्ति चित्रकला को अत्युत्तम उदाहरण हैं। वस्तुतः इनमें मारवाड़ शैली की कला का गौरवमयी स्वरूप देखने को मिलता है।

महामन्दिर आसन:— महाराजा मानसिंह ने अपने गुरु कनफटे आयस श्री देवनाथ जी की सम्मति से अपने ईष्ट देव जालंधर नाथ जी के लिए जोधपुर नागौरी गेट से 3–4 किमी की दूरी पर इस मंदिर एवं पास में दो महलों का निर्माण करवाया।⁴ 29 अप्रैल 1804 ई. को इसका निर्माण प्रारम्भ किया गया व 4 फरवरी 1805 ईस्वी को महामन्दिर की प्रतिष्ठा हुई।⁵ मन्दिर निर्माण पर उस समय 10 लाख रूपया खर्च हुआ था।⁶ मन्दिर के चारों ओर विशाल परकोटे (सवा मील परिधि) का निमाण किया गया है जिसमें बुर्जे बनी हुई हैं।⁷ इस विशाल मन्दिर से ही इस क्षेत्र का नाम महामंदिर पड़ा।

मुख्य मन्दिर विशाल चबूतरे पर स्थित है जहाँ करीब 100 स्तम्भ हैं। मन्दिर

के गर्भगृह में संगमरमर की ऊँची चौकी पर जालंधरनाथ जी की मूर्ति एवं चरण चिन्ह स्थापित है। मंदिर के गर्भगृह व परिक्रमा स्थल में गालागीला अथवा फ्रेस्को बूनों तकनीक में सुन्दर भित्ति चित्रों का निर्माण किया गया है जिन पर सोने की कलम से कार्य किया गया है। यहाँ मुख्यतः नाथयोगियों व 84 योग आसन करते योगियों एवं महाराजा मानसिंह व अन्य राजप्रमुखों को नाथ साधुओं से भेंट करते चित्रित किया गया है।

मन्दिर में एक शिलालेख भी लगा है जिसे शरणार्थियों का शिलालेख कहा जाता है। इस शिलालेख में लिखा है कि कोई व्यक्ति जब महामन्दिर में शरण लेता है तो उसकी रक्षा करना एक धार्मिक कर्तव्य हो जाता है। यह शिलालेख मन्दिर में शरण लेने वाले नागपुर शासक 'मधुराज देव भौंसले' की रक्षा के लिए (महाराजा मानसिंह ने) खुदवाया गया था।⁹ सम्पूर्ण मन्दिर भव्य व कलात्मक है। मन्दिर में बने चित्र तोरण, द्वार, गुम्बर, झरोखें, झाळीदार खिड़कियां व चंदन पर बारीक कारीगरी का दरवाजा अद्भुत दृश्य पैदा करते हैं।

उदयमन्दिर आसन:- सन् 1817 ईस्वी में राजा के गुरु आयस देवनाथ की हत्या कर दी गई तो महामंदिर की गद्दी पर अधिकार को लेकर देवनाथ के पुत्र लड्डूनाथ और देवनाथ के भाई भीमनाथ के बीच झगड़ा हो गया। इनका झगड़ा मिटाने के लिए राजा मानसिंह ने सन् 1821 ई. में जोधपुर मेडती गेट दजवाजें के पास अपने गुरु आयस देवनाथ के भाई भीमनाथ के लिए मन्दिर बनवाकर उसे पुजारी नियुक्त किया।⁹

उदयमंदिर आसन महामंदिर के समान भव्य व कलात्मक स्वरूप लिये हुए है। उदयमंदिर तक जाने के लिए एक घाटीनुमा सड़क पोल तक बनी हुई है। मुख्य मन्दिर विशाल आयताकार चबूतरे पर स्थित है जहां करीब 102 स्तम्भ हैं।¹⁰ गर्भगृह में संगमरमर के पद्माकार खण्ड पर योगीराज जालंधरनाथ जी के चरण चिन्ह स्थ. ापित है।

उदयमंदिर में केवल गर्भगृह के अन्दर भित्तियों पर आलागीला (फ्रेस्को बूनों) तकनीक में भित्ति चित्रों का अंकन किया गया है। यहां सम्पूर्ण भित्ति जमीन से छत तक चित्रों से सुशोभित है। यहाँ मुख्यतः 84 योगमुद्राओं व नाथ योगियों, देवी-देवताओं व प्राकृतिक दृश्यों को बनाया गया है। यहां के चित्रों में सोने की कलम का प्रयोग अधिक किया गया है जो आज भी नयापन लिए हुए है। यह कक्ष अत्यंत भव्य एवं दिव्य प्रभाव दृश्य लिए हुए है।

उदयमंदिर भी महामंदिर के समान पूर्णतः कलात्मक है। यहां भी चंदन की

लकड़ी पर बारीक कारीगरी की रेलिंग, दरवाजे, झरोखे सभी मंदिर की सुन्दरता में वृद्धि करते हैं।

भित्ति चित्रों से की विषयगत व्याख्या:— महामंदिर व उदायमंदिर के भित्तिचित्रों को उनकी विषयवस्तु के आधार पर निम्न छः भागों में विभाजित किया जा सकता है—

1. योग मुद्राओं से संबंधित चित्र —
2. धार्मिक विषयों से संबंधित चित्र —
3. नाथ योगियों के राज परिवार से भेंट के दृश्य —
4. अतिन्द्रिय व काल्पनिक चित्रण —
5. प्रकृति चित्रण —
6. अंलकरण प्रधान चित्रण —

(1) योग मुद्राओं से संबंधित चित्र :- महामंदिर व उदामंदिर आसन के भित्ति चित्रों का यह सबसे प्रधान विषय है। यहां लगभग दोनों आसनों में मुख्य मन्दिर के गर्भगृह की भित्तियों पर व 84 योगासनों को करते नाथ योगियों के बहुत ही सजीवता व सुन्दरता से रचना की गई है। इन चित्रों में योगियों को बहुत जटिल से जटिल आसन करते विभिन्न प्रकार की मुद्राएँ बनाते हुए स्वाभाविकता पूर्ण अंकन किया है। ये चित्रों का संयोजन सम्पूर्ण भित्ति पर रंगों के निश्चित खाने बनाकर तथा एक निश्चित दूरी पर बनाया है। चित्र संयोजन में योगियों को जंगल में चट्टानों के मध्य अपनी कुटिया में आसन करते बनाया है। चित्र संख्या 1, 2

(2) धार्मिक विषयों से संबंधित चित्र :- इसके अन्तर्गत मुख्यतः शिव-परिवार के दृश्यों तथा देवी-देवताओं व नाथ योगियों को बनया है। चित्र में नाथ योगियों को भी दैवीय रूप में पंखों युक्त आकाश में बादलों के मध्य विचरण करते बनाया है जिसमें उनका आधा शरीर ही दिखाया है। इसके अतिरिक्त प्रमुख नाथ योगियों को अपने मंदिर, आसन व कुटिया में बैठे हुए पुजा करते, जप ध्यान करते चित्रित किया है। इसी प्रकार उदयमंदिर के गर्भगृह की भित्ति पर एक चित्र जिसमें एक योगी के तप के प्रभाव को दर्शाया है, जिसमें विपरीत स्वभाव के पशु-पक्षियों की उपस्थिति में नाथयोगी जंगल में अपनी कुटिया में एक पक्षी की दुलार रहे हैं एवं एक सिंह भी उनकी ओर बढ़ते हुए बनाया है योगी का ध्यान भी सिंह की ओर है परन्तु वे शांत व स्थित भाव से बैठे चित्रित किए गए हैं। चित्र संख्या — (3), (4), (5)

(3) नाथ योगियों के राज-परिवार से भेंट के दृश्य — इसके अंतर्गत मारवाड़

राज-परिवार के प्रमुख सदस्यों व राज अधिकारियों को नाथ योगियों से भेंट के दृश्य चित्रित किये गये हैं। जिसमें प्रमुखता से महाराजा मानसिंह के अपने गुरु आयस देवनथा से भेंट के दृश्य एवं जालंधर नाथ के दर्शन के चित्र एवं मल्लीनाथ राठौड़, रावरतन राठौड़ आदि के नाथ योगियों से भेंट के दृश्य महामंदिर के गर्भगृह की बाहरी भित्तियों पर परिक्रमा स्थल में बनाये गये हैं। चित्र में राजा को अपने गौरवपूर्ण रूप से एवं नाथ योगी को उनके दिव्य रूप के साथ चित्रित किया गया है। चित्र संख्या - (6)

(4) अतिन्द्रिय व काल्पनिक चित्रण :- इस विषय से संबंधित चित्र मुख्यतः उदयमंदिर आसन की गर्भगृह की भित्तियों पर बनाए गए हैं, जिसके अन्तर्गत काल्पनिक पशुओं व मानवाकृतियों को चित्रित किया है। जिनमें सिंह, हिरण, गाय, आदि स्वरूप वाले पशुओं के पंख बनाए गए हैं तथा मुख से अग्नि की ज्वाला निकलते बनाया गया है तथा कहीं मानवाकृति की मुखाकृति एवं शेष शरीर पशुआकृति में चित्रित किया गया है। चित्र संख्या - (6)

(5) प्रकृति चित्रण :- उदयमंदिर व महामंदिर दोनों ही स्थानों पर प्राकृतिक दृश्यों को बहुत महत्ता व जीवंतता के साथ चित्रित किया गया है। मन्दिर में सम्पूर्ण भित्ति जमीन से लेकर छत तक को प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों जैसे मीन व मकर से युक्त नदी, फल-फूल, पशु-पक्षी से युक्त वृक्ष व शाखाएँ, हाथी, सिंह, हिरण, गाय, बन्दर, मोर से युक्त जंगल, बड़ी-बड़ी चट्टाने, पर्वतमालाएँ व बादलों से युक्त आकाश आदि सभी रूपों का बहुत आकर्षक चित्रण किया गया है। कोई भी विषय संयोजन प्रकृति चित्रण के बगैर नहीं बनाया गया है। वस्तुतः यहां के भित्त्यांकन में योगासन और प्रकृति चित्रकारों का सर्वाधिक प्रिय विषय रहा है। चित्र संख्या - (8)

(6) अंलकरण प्रधान चित्रण - महामंदिर व उदयमंदिर दोनों आसनों में चित्रों को भव्य अंलकरण शैली में बनाया गया है। सम्पूर्ण भित्ति पर जटिल संयोजन को लालित्य देने का श्रेय कलाकारों की इस अंलकरण पद्धति को जाता है जिन्होंने गर्भगृह की भित्ति का कुछ भी स्थान रिक्त नहीं छोड़ा वहां फूल-पत्ती लहरदार रेखाओं से सुन्दर कलात्मक डिजाइन बनाए हैं। मन्दिर के अंदर झरोखे, गुम्बद व बुर्ज पर सोने के पानी से एवं फूल-पत्ती के अलग-अलग रूपों में चित्रण किया है। सभी विषयों चाहे नाथ योगियों के आभूषणों, सिंहासनों, राज दरबारियों व प्रकृति चित्रण सभी अंलकरण युक्त हैं।

वस्तुतः यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि मारवाड़ नाथ सम्प्रदाय के प्रमुख केन्द्र महामंदिर व उदयमंदिर आसन भित्ति चित्रों के कला-तीर्थ हैं। यहां चित्रों के विषय व उनकी बनावट मारवाड़ शैली की विशेष पहचान व गौरव हैं। इन चित्रों

की विशेषता इनकी तकनीक भी है। जिसके कारण ये चित्र वर्तमान में भी अपनी स्थिति बनाये हुए है।

भित्ति चित्रों की तकनीक : सामान्यतः भित्ति पर किया गया चित्रण ही भित्ति चित्रण कहलाता है। चित्रों को स्थायित्व देने के लिए भित्ति तैयार कर उस पर चित्रण किया जाता है तब चित्र भित्ति का ही हिस्सा बन जाते हैं। भित्ति चित्रों का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। मिस्र, यूनान, रोमन, साम्राज्य, चीन, जापान व भारत में भित्ति चित्र प्राचीन परम्परा का गौरवपूर्ण इतिहास मिलता है।

मुख्यतः भित्ति चित्रण की तीन विधियां हैं¹¹:-

- (1) फ्रेस्को बूनों – गीला पद्धति या विशुद्ध फ्रेस्को
- (2) फ्रेस्को सेक्को – अलगीला पद्धति, (अर्द्ध शुष्क)
- (3) टेम्परा – शुष्क पद्धति

(1) फ्रेस्को बूनों – चूने के नम प्लास्टर पर किया गया चित्रण फ्रेस्को बूनों या शुद्ध फ्रेस्को कहते हैं।

(2) फ्रेस्को सेक्को – सूखे प्लास्टर पर किए गए चित्रण को फ्रेस्को सेक्को नाम दिया गया है।

(3) टेम्परा चित्रण – पूर्ण सूखे प्लास्टर पर बंधक के प्रयोग जैसे:- गोंद, सरेस, अण्डे की जर्दी, पायस के साथ चित्रण करने पर वह टेम्परा कहलाता है।

महामन्दिर व उदयमन्दिर आसन में प्रयुक्त तकनीक :-

महामन्दिर व उदयमन्दिर आसन में कार्य फ्रेस्कों बूनों तकनीक में किया गया है। राजस्थान में इस तकनीक को आरायश, मोराकसी, आला-गीला नाम से सम्बोधित किया जाने लगा एवं जयपुर इसका प्रधान केन्द्र रहा है।¹² अतः इस प्रणाली को 'जयपुर फ्रेस्को' तकनीक नाम से भी जाना जाता है।

चित्रण विधि:- राजस्थानी आरायश पद्धति के चित्र निर्माण की सर्वप्रमुख विशेषता उसके चित्र धरातल (जमीन) को सफलतापूर्वक तैयार करने में ही निर्माण है, यथा- दीवार की उपयुक्तता और टिकाऊपन की पहचान। प्लास्टर के मसालों का उपयुक्त प्रयोग एवं आनुपाति ज्ञान। कार्य करने का ताव अर्थात् दीवार को कितना भिगोना, मसालों को कोटिंग लगाना और कितने अन्तर के बाद। उचित रंगों का चयन और उन्हें तैयार करने की विधि का ज्ञान।¹³

आरायश पद्धति में प्लास्टर की लगभग तीन सतह जिसमें निश्चित अनुपात में चूना+बजरी, फिर चूना+मार्बल पाउडर (झींकी), और अंत में चूना कली लगाकर उस

पर चित्रांकन व रंगांकन किया जाता है। यह कार्य शीघ्रता से भित्ति के नम रहने तक में पूर्ण कर दिया जाता है। इस कार्य में कई तरह के औजार जैसे बटकड़ा, नहला, झावा-पत्थर, हकीक पत्थर आदि काम में लिये जाते हैं। इनसे भित्ति की घिसाई, टुकाई व घुटाई करने पर चित्र की ऊपरी सतह काँच के समान चमकने लगती है और चित्र भित्ति का ही हिस्सा बन जाते हैं।

भित्ति चित्रों में मिट्टी (भूमिज), व पत्थर (खनिज), व धातु के शोधित रंगों को प्रयुक्त किया जाता है जिनमें प्रमुखता से रामराज (त्मससवू वबीमतम), हिरमिच व गेरू (त्मक व्बीमतम), हरा-भाटा (ज्मततंअमतज्म), नील (पदकपहव) काजल का काला (संच ठसंबा) कोयला, चूना कली व खडिया एवं पेवड़ी (पीला), हिंगलू (लाल), सिन्दूर, लाजवर्द (नीला) आदि रंग प्रस्तुत किये जाते हैं।¹⁴ इन रंगों को कूटकर पीसकर, छानकर पानी में घोटकर चित्रण कार्य के लिए तैयार किया जाता है।

महामंदिर व उदयमंदिर की भित्तियों पर इन सभी रंगों के साथ सोने के वर्क का व सोने का रंग हिलकारी¹⁵ का प्रयोग भी किया गया है। जिनकी चमक आज भी नयापन लिये हुए है।

उपसंहार:- किसी भी देश-राज्य की सांस्कृतिक विशेषताओं में कला व धर्म अपना विशेष स्थान रखते हैं। इसी परम्परा में मारवाड़ शैली के गौरव महामन्दिर व उदयमन्दिर के नाथ सम्प्रदाय के भित्ति चित्र कला व धर्म के अद्भुत संगम को प्रकट करते हैं। यहां के भित्ति चित्र कलात्मक तत्वों, यथा-रेखा, रूप, वर्ण, तान, पोत व अन्तराल की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति है। जो कि मारवाड़ शैली के चित्रकला की गौरवमयी स्वरूप को प्रस्तुत करते हैं। वस्तुतः ये कलाके तीर्थ ही हैं। वर्तमान में इनके समुचित संरक्षण की आवश्यकता है जिससे ये कला निधि अपना स्वरूप ना खो दे तथा आने वाली पीढ़ी इस के कला वैभव से वंचित न रह जाए।

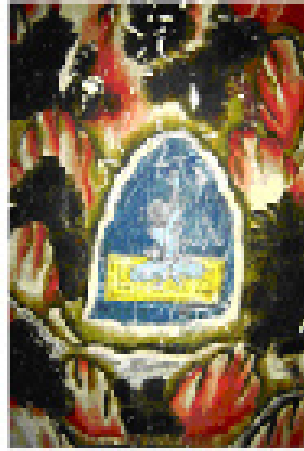
चित्र सूची

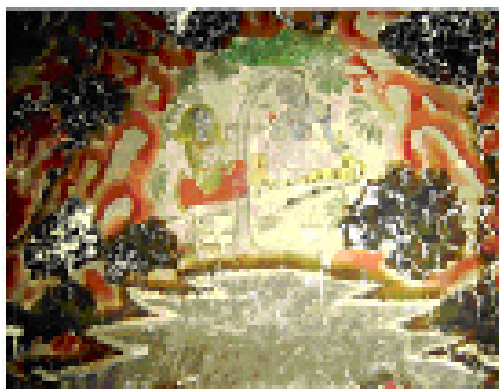
चित्र संख्या 1	योगासन महामंदिर
चित्र संख्या 2	योगासन उदयमंदिर
चित्र संख्या 3	शिव परिवार उदयमंदिर
चित्र संख्या 4	योगी, पक्षी, सिंह उदयमंदिर
चित्र संख्या 5	देवी-देवता उदयमंदिर
चित्र संख्या 6	महाराजा मानसिंह नाथ साधु से भेंट करते हुए, महामंदिर
चित्र संख्या 7	काल्पनिक पशु, उदयमंदिर

चित्र संख्या 8 प्रकृति चित्रण, उदयमंदिर

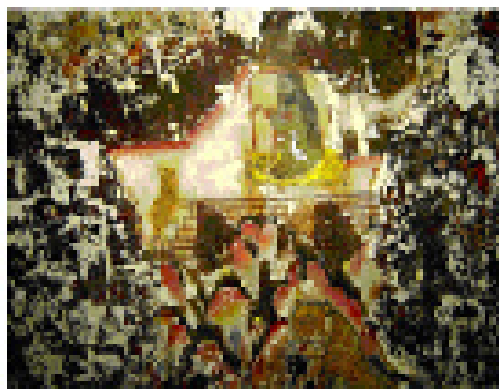
संदर्भ ग्रंथ सूची

1. डॉ. कमल किशोर सांखला:- 'राजस्थान के नाथ सम्प्रदाय का सांस्कृतिक इतिहास', पृष्ठ-61, म. मानसिंह पुस्तक प्रकाश केन्द्र, जोधपुर 2011
2. डॉ. रामप्रसाद दाधीच:- महाराजा मानसिंह (जोधपुर) व्यक्तित्व एवं कृतित्व पृष्ठ 32, राजस्थानी शोध संस्थान चौपासनी, जोधपुर 1972
3. वही - पृष्ठ - 32
4. डॉ. कमल किशोर सांखला:- राज.के.ना.सं.का. सा. इति. पृष्ठ 155-156
5. (1) प्रेम भण्डारी:- सूर्यनगरी जोधपुर, पृष्ठ सं. 47, पूजा प्रकाशन, जोधपुर 1988 (2) डॉ. पद्मजा शर्मा:- म. मानसिंह और उनका काल, पृ. 143, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, 1974 (3) डॉ. कमल किशोर सांखला:- राज.के.ना.सं.स.इति. पृ. 155
6. मोहनलाल गुप्ता:- जोधपुर जिलेवार सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक अध्ययन, पृ. 43, नवभारत प्रकाशन, जोधपुर, 2004
7. डॉ. पद्मजा शर्मा:- म. मानसिंह और उनका काल, पृ. 242
8. प्रेम भण्डारी:- सूर्यनगरी जोधपुर, पृ. 47
9. (1) मोहनलाल गुप्ता:- जोधपुर जिलेवार सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक अध्ययन, पृ. 44 (2)





चित्र १



चित्र २

डॉ. कमलेश शर्मा
व्याख्याता संगीत
श्री सत्य साईं महिला महाविद्यालय,
जयपुर

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. A
Sr. 9, 2016
ISSN : 2277-419X

“संगीत के अमीर उस्ताद अमीर मोहम्मद खां”

शास्त्रीय संगीत के जाने माने विद्वान एवम् संगीत के सच्चे साधक उ. अमीर मोहम्मद खां का जन्म सन 1929 में राजस्थान के रजवाड़ों की एक रियासत टोंक में हुआ था। आपके परिवार में पिछली सात पीढ़ियों से संगीत परम्परा चली आ रही है।

उ. अमीर मोहम्मद खां साहब संगीत की दुनिया में ऐसा नाम है जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन संगीत की साधना में ही लगाया है। ख्याल, तराना, ठुमरी, गीत, गजल इत्यादि गायन की सभी विधाओं में पारंगत खां साहब की गायकी में अपना एक अनोखा ही रंग देखने को मिलता है। आपने अनेक प्रचलित एवम् अप्रचलित रागों को बंदिशो के रूप में संयोजित किया है। आपकी रचनाएँ ‘मेहर पिया’ उपनाम से प्रसारित है।

गायन के साथ-साथ आप वादनकला (तबला) के भी उत्कृष्ट कलाकार हैं। आपके वादन की उत्कृष्ट लयकारी, बोलों की सफाई सुनकर बड़े-बड़े गुणी कलाकार भी आपसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। आपने तबले के अनेक कायदे, गतों व परनों का भी निर्माण किया है। तथा हाल ही में आपको आकाशवाणी द्वारा ‘वसक पे हवसक’ पुरस्कार से नवाजा गया है। किसी भी ताल में नई लयकारियां पैदा करना आपकी विशेषता है।

उ. अमीर मोहम्मद खां साहब जिनको गायक कहा जाए, या वादक, दार्शनिक या विचारक यह तयकर पाना मुश्किल ही नहीं नामुमकिन है। वास्तविकता तो यह है कि खां साहब असंख्य आत्मीय गुणों से परिपूर्ण व्यक्तित्व की मिसाल हैं।

आपने संगीत की साधना विभिन्न परिस्थितियों में कठोर संघर्ष करके की हैं। आपने परिवार में शुरू से ही संगीतमय वातावरण देखा आपके पिता उ. गुलाम मोहम्मद खां उच्च कोटि के तबला वादक थे। जिसके फलस्वरूप आप बहुत छोटी उम्र से ही अपने हाथों को उन्हीं के हाथों की तरह चलाते रहते थे। तथा अल्पायु

में ही पिता के तबले पर बजाए हुये अनेक बोल आपको कष्टस्थ हो गये थे।

इस प्रकार बचपन से ही खां साहब के मन में सांगीतिक संस्कारों का प्रभाव पड़ना आरम्भ हो गया था जो समय के साथ-साथ और भी गहरा होता चला गया। आपके पिता उ. गुलाम मोहम्मद खां साहब को तबले के साथ गायन की भी काफी जानकारी थी उन्हें कई ख्यालों के स्थाई, अन्तरे व पुरानी टुमरियों आदि याद थी। इसीलिये आपके पिता चाहते थे कि आप तबला तो सीखो ही लेकिन इसके साथ-साथ गाने की भी शिक्षा प्राप्त करो क्यों कि उनका मानना था कि आपका गला गाने लायक है। इसी कारण आपने गायन व तबले दोनों की ही शिक्षा प्राप्त की।

आपने गायन की शिक्षा उस्ताद बाकर अली खां साहब जो कि पटियाला घराने के प्रतिनिधि है, से 1947 से 1951 तक तथा उस्ताद कादर खां साहब जो कि आगरा घराने के उ. फैयाज खां साहब के मूर्धन्य शिष्य थे, से 1951 से 1962 तक ली। आपके तबले के गुरु उस्ताद हाफिज खां साहब है।

उ. कादर खां साहब ने आपके लिये कहा है कि –

“मेरे शागिर्द तो बहुत सारे है लेकिन तुमने मुझसे सारा इल्म ले लिया है और मुझे खाली कर दिया, मैंने सोचा था कि यह सारा इल्म मैं मेरे बच्चों को ही दूंगा लेकिन तुम्हारी लगन व तुम्हारी खिदमत ने मुझे यह सारा इल्म तुम्हें देने पर मजबूर कर दिया है।”

इसी प्रकार उ. अमीर मोहम्मद खां साहब का मानना है कि –

“शागिर्द का पहला फर्ज अपने गुरु का दिल जीतना है। खां साहब बताते है कि उन्होंने अपने उस्ताद का दिल जीत लिया था इसीलिये उ. कादर खां साहब ने उन्हें अपने शिष्य की तरह नहीं बल्कि पुत्र की तरह सिखाते थे।”

सन 1955 में जयपुर आकाशवाणी खुला व 1956 में जब यहां संगीत के ऑडीशन हुए उसमें आपने तबले के ऑडीशन के लिये फार्म भरा तथा आपको ‘ए’ ग्रेड मिला, फिर आपके जयपुर रेडियो से समय-समय पर कार्यक्रम प्रसारित होने लगे।

सन् 1964 में जब वनस्थली में एम.ए. खुला था तो वहां के गायन शिक्षक प्रो. देवधर से आपकी मुलाकात हुई। वे आपके गायन व तबले को सुनकर बहुत प्रभावित हुए। लगभग 4-5 वर्ष तक आपने प्रो. देवधर के साथ कार्य किया। और इसी बीच आपको बहुत कुछ सीखने को मिला। आपका मानना है कि देवधर साहब बहुत ही गुणी व्यक्ति थे इतने गुणी होने के बावजूद भी उनमें सीखने की बहुत ललक रहती थी और जो चीज लेने के लायक होती थी उसे ग्रहण करने की कोशिश किया करते थे।

खां साहब की गायकी में आगरा व पटियाला घराने का समावेश है और तबला वादन में दिल्ली व पूरब बाज का अंदाज है। शास्त्रीय संगीत की तालीम के बारे में आपका मानना है कि एक अच्छा कलाकार बनने के लिये बुजुर्गों की रीत को अपनाना जरूरी है, वह है शुरु शिष्य परम्परा।

संगीत कला एक पारम्परिक कला है और उसे अपनाने के लिये उस परम्परा से जुड़ना आवश्यक है। श्रोताओं के समक्ष संगीत प्रस्तुति से पहले यह आवश्यक है कि उस विषय की उचित तालीम हो, और अभ्यास करके लय और सुर पर काबू पा लिया जाये। इसके साथ ही एक महत्वपूर्ण बात यह है कि व्यक्ति का अन्तःकरण यदि साफ है तो वह सच्चाई के साथ अपनी प्रस्तुति दे अपने गुरु के बताये गये सबक को पेश करें, तो निश्चित रूप से श्रोताओं पर अच्छा असर पड़ेगा। खां साहब संगीत को इबादत का साधन मानते हैं।

खां साह का व्यक्तित्व उस दीये की भांति है जिससे अनेकों दीयें रोशन हो जाते हैं और उन दीयों के बीच में वह दीया अपने आपको छुपा लेता है।

सादा व सरल जीवन आपके व्यक्तित्व की प्रमुख व अहम विशेषता है। आप कभी भी किसी कलाकार के संबंध में निंदा नहीं करते तथा आपके बोलचाल में अभिभाव, दृष्टि में कुटिलता तथा व्यवहार में अनीति नहीं है। आपका चरित्र सचमुच एक आदर्श है वास्तव में आपको संतो की श्रेणी में रखना अनुचित नहीं होगा। आज के इस स्वार्थी युग में ऐसे निःस्वार्थ मानव को महामानव कहा जाए तो कोई आतिशयोक्ति नहीं होगी।

खां साहब के परिवार में पुत्र व पौत्र सभी संगीत जगत में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं।

उ. मोहम्मद उमर (पुत्र) जयपुर आकाशवाणी से बी-हाई क्लास तबला कलाकार है।

उ. जफर मोहम्मद (पुत्र) जयपुर आकाशवाणी पर टॉप ग्रेड के तबला कलाकार है। एवम् ख्याल गायन में बी हाई क्लास ग्रेड एवम् तुमरी गायन में बी क्लास ग्रेड रहे।

उ. मोहम्मद अहमद जयपुर आकाशवाणी से ए ग्रेड तबला वादक हैं तथा आपके पौत्र मोहम्मद अमान भी आपसे गायन की तालीम ले रहे हैं। और अभी आकाशवाणी से शास्त्रीय गायन में बी ग्रेड के कलाकार हैं। आपकी शिष्य परम्परा में फरीद हुसैन, साबिर हुसैन, मोहम्मद रफीक, अल्लादियां, सन्तोष राय, श्रीमती कृष्णा वत्स, अकबर हुसैन, मुज्जफर रहमान, शोएब, जी.डी. पारीख, संजय दीक्षित,

उ. नजर मोहम्मद, तुमरी गायक, पारूल बोहरा, डॉ. कमलेश शर्मा व ममता पाहवा आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय है।

खां साहब चाहे वादन हो या गायन अपनी जी जान लगाकर रात-दिन एक करके शिष्यों को खूब सिखाते हैं। कोई चीज सिखाने में रह ना जाए यह अटल विश्वास रखकर इस भावना से शिष्यों को ज्ञान देते हैं। आप सचमुच सरस्वती के “वरद पुत्र” हैं। आप न केवल अपने शिष्यों की शिक्षा संबंधी प्रत्येक कठिनाई का ध्यान रखते हैं बल्कि उनकी आर्थिक एवम् अन्य समस्याओं को भी ध्यान में रखते हैं। और यथा संभव उनके निराकरण के लिये सदैव तैयार रहते हैं। ऐसे निःस्वार्थ गुरु बहुत कम होते हैं जो यह चाहते हैं कि उनका शिष्य एक अच्छा कलाकार बने। उनका हृदय एक गुरु के रूप में अत्यन्त विशाल है।

गाने में स्थाई अन्तरा हो या तबले में कायदा या गत हो जब तक शिष्य के दिल व दिमाग में ना बैठे उस समय तक उन्हें बैचेनी रहती है। जब शिष्य उन्हें अच्छी तरह सुना देते हैं तो उन्हें चैन व सुकून मिल जाता है।

खां साहब अपने पूरे जीवन में संगीत के उपासक रहे हैं। आपका मानना है कि संगीत में आध्यात्म मनोरंजन मन की शांति, संवाद, उर्जा, आकर्षण सभी कुछ है जो हमें धनवान बनाता है। यह एक ऐसी दौलत है जिसे जितना लुटायेगें उतनी ही बढ़ती जायेगी इसे सुनने वाला भी अमीर होता है और सुनाने वाला भी। आपका कहना है कि संगीत एक ऐसी चीज है जिसकी व्यक्ति अपनी जुबां से व्याख्या नहीं कर सकता, उसे सिर्फ सुनकर ही महसूस किया जा सकता है।

खां साहब एक अद्भुत प्रतिभा सम्पन्न, अत्यन्त गुणी कलाकार हैं। व्यवहार कुशलता, मिलन सरिता व सरल स्वभाव से व्यक्ति के गुणों की शोभा और अधिक बढ़ जाती है। इसके बिना गुणवान से गुणवान व्यक्ति का व्यक्तित्व भी आकर्षणहीन हो जाता है। कुछ महान व्यक्तियों को विशिष्ट प्रतिभा के साथ-साथ ये सब गुण ईश्वरीय देन स्वरूप प्राप्त होते हैं, खां साहब को भी ये गुण प्राप्त हुये हैं।

खां साहब जैसे व्यक्ति कई सदियों के बाद ही जन्म लेते हैं अत्यन्त संयमित एवम् संतुलित व्यक्तित्व वाले खां साहब के व्यक्तित्व में किसी प्रकार का अवगुण नहीं है।

उ. अमीर मोहम्मद खां साहब एक महत्वाकांक्षी, विशिष्ट कलाकार, दृढ़ संकल्पी, जातिगत भेदभाव से परे, चरित्रवान, शिष्य स्नेही, विनोद प्रिय, निराभिमानी, विशाल हृदय एवम् खुले विचारों वाले और अद्भुत प्रतिभा के धनी हैं। विचित्र गुणों से समन्वित खां साहब का व्यक्तित्व एक अनूठा व्यक्तित्व है।

खां साहब एक उच्चकोटि के कवि व शायर भी है आपका मानना है कि शेर व दोहे में भी लय होती है, बगैर लय के दोहा व शेर नहीं बन सकता, वह भी गिनती में बराबर आना चाहिये।

उन्होंने गुरु की महानता पर एक दोहा लिखा है:-

“गुमान करें सो कूर करे, गुनि कहो गुमान की बात करेगो।

जो गुरु पे अपना पहुंचा हो, केसे अभिमान की बात करेगो।।

जो सतगुर पे पहुंचा ही नहीं वो तो चिरी भिरी की बात करेगो।

तू तो रब से ध्यान लगा ए मेहर, तेरा बेड़ा तो वो ही पार करेगो।।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि संगीत एवम् साहित्य दोनों की दृष्टि से उ. अमीर मोहम्मद खां साहब की रचनाएं श्रेष्ठ है जिन्हें संगीतज्ञों व शिक्षकों ने सादर से अपनाया है।

आपकी रचनाओं का अवलोकन करने से सौन्दर्य राग दर्शन, शब्द चयन स्वर शब्द का संतुलन आदि गुणों का अनुभव होता है।

अन्त में मैं यही कहना चाहूंगी कि उ. अमीर मोहम्मद खां साहब के बारे में जितना लिखा जाये या बोला जाये कम है। क्योंकि उनकी विलक्षण प्रतिभा को शब्दों में कैद नहीं किया जा सकता यह तो महसूस करने की चीज है।

मैं अपने आपको बहुत भाग्यशाली मानती हूँ कि आपने मुझे शिष्य के रूप में स्वीकारा।

उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बाद भी संगीत की साधना रियाज और तालीम की



डॉ. अनिल शर्मा
प्रवृत्ता, चित्रकला
दिल्ली अधिनस्थ स्कूल
दिल्ली

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. A
Sr. 9, 2016
ISSN : 2277-419X

क्षितिन्द्रनाथ मजूमदार : कला यात्रा

अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के पश्चात् बंगाल चित्रशैली की समग्र विशेषताओं को अपने अन्तः में ग्रहण कर जो कलाकार आजीवन कला साधना में लीन रहे, उनमें 'शिव सिद्ध' नन्दलाल बसु एवं 'चैतन्य सिद्ध' क्षितिन्द्रनाथ मजूमदार अग्रिम पंक्ति में नजर आते हैं। यहाँ भी नन्दलाल बसु ने जहाँ आगे चलकर प्रयोगशील प्रवृत्ति को अपनाया किन्तु क्षितिन्द्रनाथ सदैव अपने गुरु के बताये हुए मार्ग पर पूर्ण निष्ठा से साधनालीन रहे। अपनी विशिष्ट शैली और आध्यात्मिक भावों की अभिव्यक्ति के कारण वह बंगाल शैली के वैष्णव चित्रकार के रूप में प्रसिद्ध रहे। आचार्य अवनीन्द्रनाथ स्वयं मानते थे कि, "रेखा की कोमलता तथा भागवत साहित्य के कवित्वपूर्ण सुन्दर वर्णन³ की गहराई पहचानने में क्षितिन्द्र मुझसे श्रेष्ठ हैं।"⁴

बंगाल शैली के अनन्य साधक क्षितिन्द्रनाथ मजूमदार का जन्म सन् 1878 में बंगाल के मुर्शिदाबाद जिले में, निमतीता नामक स्थान पर हुआ। इनके पिता केदारनाथ मजूमदार सब रजिस्ट्रार के पद पर कार्यरत थे। अल्पायु में ही इनकी माता का निधन हो गया था बाल्यावस्था से ही परिवार और आसपास के धार्मिक वातावरण के प्रभाव के कारण वह राधा-कृष्ण के भक्त बन गए थे।

बचपन से ही धार्मिक वातावरण के अतिरिक्त उन्हें कलात्मक वातावरण का भी सान्निध्य मिला, स्थानीय ग्रामीण परिवेश के कारण उनकी आरंभिक शिक्षा-दीक्षा ठीक प्रकार से नहीं हो पायी, किन्तु प्राकृतिक सौन्दर्य का उन्हें भरपूर आश्रय मिला। उनकी कलागत अभिरुचि को पहचानते हुए उनके पिता ने उन्हें राजकीय कला विद्यालय, कलकत्ता में प्रवेश दिला दिया। यहाँ सन् 1898 से 1901 तक, लेकिन बिनोदबिहारी मुखर्जी के अनुसार सन् 1901 से 1904 तक उन्होंने कलकत्ता के राजकीय कला विद्यालय में कला की शिक्षा प्राप्त की।⁵ अपने आरंभिक अध्ययन काल में उनके द्वारा बनाया गया 'ध्रुव की तपस्या' शीर्षक चित्र काफी प्रशंसनीय रहा, जो तत्कालीन समय में अस्सी रुपये में बिका। उन्हीं दिनों लन्दन के प्रसिद्ध कलाकार राथेंस्टीन, जो भारत आए हुए थे,

क्षितीन्द्रनाथ के व्यक्तित्व और कृतिव से काफी प्रभावित हुए। उन्होंने क्षितीन्द्रनाथ के कई चित्र खरीदे साथ ही उनके कुछ स्केच भी बनाये।

क्षितीन्द्रनाथ कला शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् सन् १९४६ में इंडियन सोसायटी ऑफ ओरिएंटल आर्ट, कलकत्ता में कला शिक्षक के पद पर नियुक्त हुए, जहाँ बाद में वह प्रधानाचार्य बने। यहाँ षट् वर्ष तक कार्यरत रहने के उपरान्त सन् १९५२ में लखनऊ विश्वविद्यालय के कला विभाग में प्रवक्ता के पद पर नियुक्त हुए। कुछ समय पश्चात् उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय के ललित कला विभाग में अध्यक्ष पद को स भाला और वह यहाँ सन् १९६० में सेवानिवृत्त होने तक कार्यरत रहे।^१ एक कलाकार की कला साधना को एक तपस्वी से भी श्रेष्ठ मानने वाले क्षितीन्द्रनाथ का मानना था कि, “साधना या तपस्या करने में सन्त महात्मा आँखें बन्द कर एकाग्रता प्राप्त करते हैं, जबकि कलाकार को यह तपस्या या साधना आँखें खुली रखकर करनी होती है। निश्चित रूप से आँखें तरह-तरह के सौन्दर्य से अभिभूत होती हैं और उससे उसका ध्यान भंग हो सकता है। उसकी साधना में बाधा पड़ सकती है, इसलिए कलाकार की साधना अन्य साधकों से बहुत कठिन होती है; क्योंकि जरा भी विचलित होने पर उसकी तपस्या खण्डित हो जाती है।”^२

बंगाल शैली के एक परंपरावादी किन्तु विशिष्ट कलाकार के रूप में अपनी पहचान बनाने वाले क्षितीन्द्रनाथ की कला कई पढ़ावों से गुजरी, किन्तु वह सन्त कलाकार कभी विचलित नहीं हुआ। उनके शुरुआती चित्रों में ‘ध्रुव की तपस्या’ और ‘राधा का अभिसार’ उल्लेखनीय रहे। उनकी अनेक प्रारंभिक कृतियाँ कलाविद् रोथेंस्टीन, वायसराय लार्ड हार्डिंग, गवर्नर लार्ड रोनाल्डसे, शिशिर कुमार घोष तथा टैगोर परिवार के संग्रह में हैं। आर.भ.से ही चैतन्य महाप्रभु के चित्रण में क्षितीन्द्रनाथ की अभिरूचि थी। अतः अक्षयनाथ के परामर्श से उन्होंने पुरी की यात्रा की, जहाँ उनका चैतन्य के अनेक स्मृति-चिन्हों से साक्षात्कार हुआ। वह कीर्तन के पद भी गाया करते थे, अतः अवकाश के क्षणों में अक्षयनाथ उनसे वे पद सुनना पसन्द करते थे। उन्होंने चैतन्य महाप्रभु के जीवन-प्रसंगों और उनके द्वारा प्रतिपादित राधा-कृष्ण की भाक्तपरक विषय-वस्तु का अंकन बड़े मनोयोग से किया है। अक्षयनाथ स्वयं उनसे कहा करते थे कि, “नन्दलाल को शिव (विषयक चित्र) की सिद्धि है, मैं स्वयं मुगल विषयक सिद्ध हूँ और तुम (क्षितीन्द्रनाथ) चैतन्य सिद्ध हो।”^३

क्षितीन्द्रनाथ के चित्रों में भाक्तपरक प्रेम का मधुर अवसाद एक मूल स्थायी भाव के रूप में परिलक्षित होता है। उनके कला-सृजन की मूल प्रेरणा और आधार

स्रोत भागवत पुराण रहा है, जो वैष्णव भक्ति का अन्यतम स्रोत है। भागवत पुराण के अतिरिक्त गीत-गोविन्द, रामायण, महाभारत एवं पौराणिक आ यानों पर भी उनके चित्र आधारित रहे हैं। स्वामी हरिकेशव घोष की प्रेरणा से उन्होंने 'गीत-गोविन्द' पर एक चित्र शृंखला बनाई जिसके सत्रह चित्र 'चित्रे-गीत-गोविन्द' शीर्षक से इंडियन प्रेस, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित किये गये। राधा-कृष्ण, राधा, राधा कृष्ण की प्रथम भेंट, कृष्ण और गोपियाँ, कालिया-दमन, वृक्ष का आल बन करती राधा, उद्धव-गोपिका, रासलीला आदि अनेक चित्रों में उनकी कृष्ण भक्ति का लालित्य और मधुरता प्रेक्षक के मन पर गहन प्रभाव डालते हैं। उनका चित्र 'कृष्ण और गोपियाँ' लावण्यपूर्ण है और संयोजन की दृष्टि से उत्कृष्ट है। गोपियों की दृष्टिगत प्रभाविता का क्षेत्र कृष्ण पर केन्द्रित हो जाता है। अवनीन्द्रनाथ ने इस चित्र को 'संगीत के सात स्वर' शीर्षक दिया था। जब उनसे पूछा गया कि पाँच गोपियाँ हैं और छठे कृष्ण हुए, यह सातवां कौन है? तब उन्होंने उत्तर दिया कि सातवां स्वर बाहें फैलाये खड़ा वृक्ष है। यहाँ पाँच गोपियाँ पाँच इन्द्रियों की प्रतीक हैं और कृष्ण उनके स्वामी आत्मा के प्रतीक। इसी प्रकार 'रासलीला' के चित्र उनकी समग्र कला साधना का प्रतिनिधित्व करते प्रतीत होते हैं। इन चित्रों में प्रेम भाव से कृष्ण भक्ति में लीन गोपियों की मनोदशा, रास में तल्लीन उनकी शारीरिक भंगिमाओं और कपड़ों के अस्त-व्यस्त होने में देखी जा सकती है। अपनी भक्ति तथा कला साधना के विषय में उनका कहना था कि, "चित्रकला तो मेरे लिए आत्मिक शान्ति की वस्तु है। हृदय के अनुराग की वस्तु। उसमें विकास जरूर होता है, परिवर्तन नहीं। मुझे वैष्णव धर्म ने प्रभावित किया। चैतन्य महाप्रभु, मीरा तथा ध्रुव की भक्ति में मन को चैन मिला। राधा-भाव में मन को शांति मिली। कृष्ण और राधा ही मेरे जीवन के सत्य रहे। उनमें कभी कोई परिवर्तन नहीं हुआ।"^{१४}

रामायण व महाभारत के कई प्रसंगों को क्षितिन्द्रनाथ ने सजीव अभिव्यक्ति दी। कैकयी और दशरथ, अर्जुन-उर्वशी, हंस-दमयन्ती आदि कई चित्र भक्ति और अनन्य प्रेम की साधना में पगे हैं। इनके अतिरिक्त लक्ष्मी, सरस्वती, गंगा, यमुना एवं मनसा देवी के चित्र भी भक्तिभाव से परिपूर्ण हैं। इन चित्रों में रेखाओं का प्रवाह और लालित्यपूर्ण रंगांकन चित्राकर्षक है। चैतन्य महाप्रभु के जीवन प्रसंगों के अंकन में क्षितिन्द्रनाथ की आकांक्षाओं की उदात्ता मुखरित हुई है। 'चैतन्य-शृंखला' में इनकी शैली की विशिष्टता नजर आती है। इस शृंखला के उनके चित्रों में चैतन्य महाप्रभु, सन्त के रूप में चैतन्य, कृष्ण प्रेम में विभोर, गुरु के द्वार पर, चैतन्य का गृह परित्याग, चैतन्य का क्षमादान, चैतन्य का उपचार आदि उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त उनके अन्य भक्तिपरक चित्रों

में मीराबाई, स्वामी हरिदास, कीर्तन, भक्ति और वैराग्य, निमाई और सनातन, चरण शृंगार आदि विशिष्ट हैं। कालीदास रचित 'मेघदूत' पर बनाए उनके चित्रों में शकुन्तला, शकुन्तला की विदाई, यक्ष की पत्नी, आदि प्रमुख हैं। इनके अलावा उनके कुछ अन्य विशिष्ट चित्रों में यौवन और वृद्धावस्था, फूल चुनती हुई महिला, पालित मृग, युवती तथा नारी आदि प्रमुख हैं।

बंगाल शैली के कुछ कलाकार आगे चलकर पाश्चात्य कला की नवीन शैलियों और प्रविधियों की ओर आकृष्ट हुए, किन्तु क्षितीन्द्रनाथ सदैव अपनी पर परा की जड़ों में रमे रहे, इसलिए उनके चित्र उनकी स्वयं निर्मित एक रीति-बद्धता से आवृत हैं। एक भक्ति और गायक होने के नाते उनके चित्रों में गीतात्मक तत्त्व की प्रधानता रही है। बिनोदबिहारी मुखर्जी का कहना है कि, "उनके चित्र महाकाव्यों की गीतात्मकता पर आधारित हैं, जिन्हें हम रूपात्मकता भी कह सकते हैं।"¹⁶ उनके चित्रों के विषय, शैली और भावाभिव्यक्ति में एक सुमधुर तारतम्य परिलक्षित होता है। उनके चित्रों में भावों का सूक्ष्म अंकन मिलता है, यथा—'तमाल का वृक्ष का आलिंगन करती राधिका' चित्र में श्याम वर्ण के वृक्ष की झूलती शाखाएँ और पीछे से झाँकता हुआ चन्द्रमा वातावरण में प्रेमरस घोल रहे हैं। उनके चित्रों की लयात्मक आकृतियाँ अद्भुत लुनाई और चारूता लिए हैं, मानवाकृतियों के अंकन में सिर अपेक्षाकृत छोटा है, आकृतियाँ लंबी एवं लताओं के समान क्षीण व लयात्मक हैं तथा कोमल हाथ-पैर एवं झुकी हुई मुद्रायें गरिमामय अभिजात्य का प्रदर्शन करती प्रतीत होती हैं। वस्त्रों की बनावट एवं फहरान लयात्मक ढंग से सुन्दर है। रेखायें लंबी, बहावदार एवं लयात्मक हैं। रंग-योजना अत्यन्त मोहक है जिसमें सौं य, पवित्र व शान्त भाव दृष्टिगत होते हैं। हल्का पीला, लाल, हरा और गेरुआ उनके प्रिय रंग हैं। जया अप्पास्वामी के अनुसार, "क्षितीन्द्रनाथ के रंग एवं रेखाओं में मध्यकालीन कवियों की कविता का आभास होता है।"¹⁷ बंगाल शैली की विशेषता लिए हुए वांश एवं टे परा पद्धति में उन्होंने विशुद्ध रूप से अंकन किया है। उनकी एक और विशेषता यह रही है कि प्रायः चित्र बनाने से पूर्व वह उसके अध्ययन के लिए कोई रेखांकन नहीं बनाते थे। प्रायः उनके सभी चित्र उनकी अन्तः प्रेरणा से निस्तृत हुए हैं।

क्षितीन्द्रनाथ अपने जीवन में सदैव सरल, सौं य, मृदुभाषी और आत्मसंतोषी रहे। उनके सरल व्यक्तित्व के मूल में वैष्णव धर्म में उनकी आस्था और सिद्धान्तों की दृढ़ता रही। स्वभाव से संकोची और मितभाषी क्षितीन्द्रनाथ सदैव आत्म प्रचार से दूर रहे एवं अपनी कला को कभी वादग्रस्त नहीं बनाया। - फरवरी, सन् १९३५ को यह कला साधक अपने आराध्य में अर्न्तलीन हो गया। ऐसे मूर्धन्य कलाकार को याद करना वास्तव

में अपनी पर पराओं का स्मरण करना है। उनके चित्रों की तीन बड़ी (रीट्रोस्पेक्ट) प्रदर्शनियाँ सन् १९३६ तथा १९३७ में बनारस तथा १९३९ में कलकत्ता में आयोजित की गईं। स भवतः इनके सर्वाधिक चित्रों का संकलन इलाहाबाद संग्रहालय में है। लक्ष्मी, यक्ष की पत्नी, रासलीला, कैकयी और दशरथ, फूल चुनती हुई महिला और बादलों में नृत्य करती अप्सरायें आदि आठ महत्वपूर्ण चित्र राष्ट्रीय आधुनिक कला संग्रहालय, नई दिल्ली में संग्रहीत हैं। इनके अतिरिक्त भारत कला भवन, वाराणसी; इंडियन यूजियम, कलकत्ता, आशुतोष यूजियम ऑफ इंडियन आर्ट, कलकत्ता एवं अनेक निजी संग्रहों में उनके चित्र संग्रहीत हैं।

क्षितिन्द्रनाथ मजूमदार के चित्रों का अध्ययन

बंगाल शैली के एक पर परावादी विशिष्ट चित्रकार क्षितिन्द्रनाथ मजूमदार आजीवन पर परा की लीक पर चलकर सृजनरत रहे। फलतः उनके चित्र उनकी स्वयं निर्मित एक रीतिबद्धता से आबद्ध हैं। प्रेम का मधुर अवसाद लिए उनकी कला अवधारणा की जड़ें वैष्णव धर्म में अवस्थित हैं। उनके सृजन में धार्मिक और पौराणिक आ यान प्रिय विषय रहे, जिनमें रामायण, महाभारत, कृष्ण लीला तथा चैतन्य महाप्रभु के आध्यात्मिक जीवन का चित्रण प्रमुख रहा। उनके चित्रों की महत्वपूर्ण विशेषता यह रही है कि रंग और रेखाएँ किसी रूप विशेष की द्योतक नहीं होकर आन्तरिक अभिव्यक्ति में तद्रूप हो उठी हैं। राष्ट्रीय आधुनिक कला संग्रहालय, नई दिल्ली में उनके आठ चित्र संरक्षित हैं, जिनका विवेचन अग्रलिखित है—

रासलीला—क्षितिन्द्रनाथ मजूमदार ने यह चित्र (चित्र सं या-क) १९३६ ई. में कृष्णलीलाओं के आधार पर बंगाल शैली में बनाया था। यह चित्र कागज पर २५.४५५.५५ से.मी. आकार में वाँश और टे परा प्रविधि में बना हुआ है। इस चित्र में नीलवर्ण कृष्ण को गोपियों के साथ रासलीला करते हुए दर्शाया है। पूर्ण सुसज्जित, रंग-बिरंगी वेशभूषा में बारह गोपियों को विभिन्न मुद्राओं में कृष्ण के इर्द-गिर्द नृत्यरत दिखाया गया है। उनके मुख पर प्रेम की अनुभूति स्वतः ही प्रकट हो रही है। सभी गोपियों के बालों में फूलों से बने जूड़े लगे हैं। केवल एक गोपी के बालों की चोटी उसकी कमर तक लटकी है। सभी गोपियों ने पैरों में पायल पहनी है। हाथों, कानों और गले में भी आभूषण पहने हैं।

कृष्ण के बालों में भी अलंकृत जूड़ा बँधा है। उनके गले में गेरु रंग का दुपट्टा लिपटा है तथा कमर के नीचे पीली धोती पहनी है। उनकी मनमोहक मुद्रा को खूबसूरती से प्रस्तुत किया गया है। पृष्ठभूमि में तीन वृक्षों के तनों और उनके ऊपर की पत्तियों को

बारीकी के साथ नीले, हरे और पीले रंगों के उचित संयोजन के साथ प्रस्तुत किया गया है। चित्र के अग्रभाग में नीले, हरे, भूरे और पीले रंगों के उचित मिश्रण से धरातल को दिखाया गया है। यह चित्र अपने विषयानुरूप संयोजन तथा लयात्मक रूपाकृतियों, सौ य रंग योजना और कोमल रेखांकन से रागात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति में अनूठा है।

पालतू हिरण—क्षितिन्द्रनाथ द्वारा चित्रित यह चित्र (चित्र सं या-ख) सामंजस्यपूर्ण रंग योजना और लयात्मक रूपाकृतियों के साथ कलात्मक ढंग से चित्रित किया गया है। यह चित्र कागज पर वॉश और टे परा माध्यम में १५×१५ से.मी. आकार में निर्मित है। इस ऊर्ध्ववत् संयोजन के मध्य में एक महिला कमर तक बनी हुई एक दीवार के सहारे बनी हुई सीढ़ियों पर खड़ी हुई है। श्वेत रंग की साड़ी, हरे रंग की चोली और गेरुआ लहंगा पहने हुए बायाँ हाथ दीवार पर टिकाकर, दाहिने हाथ से अपनी साड़ी को सँभालते हुए वह आकर्षक मुद्रा में कमर झुकाकर अग्रभूमि में बैठे हुए अपने पालतू हिरण की ओर देख रही है। उसकी आकृति अपेक्षाकृत अधिक ल बी और पतली है तथापि कोमल रेखाओं और वस्त्रों की सुन्दर डिजाइन से वह आकर्षक प्रतीत होती है। अग्रभूमि में फर्श पर बैठा हिरण उसकी ओर देख रहा है। पार्श्व में लकड़ी की बाड़ और पृष्ठभूमि में घुमावदार वृक्ष और उसकी पतली, लयात्मक शाखाओं के छोर पर खिले सफेद पुष्प और इँकी-दुँकी पंजायों अंकित हैं। वृक्ष के पार्श्व में अंकित चन्द्रमा और लालिमा युक्त आकाश रात्रि के होने का संकेत दे रहा है। सामंजस्यपूर्ण, सौ य रंग योजना, बारीक रेखाओं की लयबद्धता और भावों की अभिव्यक्ति में यह चित्र अनूठा है।

फूल तोड़ती महिला—क्षितिन्द्रनाथ की कला की विषय-वस्तु में भावनात्मक चुनाव और उसकी अभिव्यक्ति इन दोनों में ही एक लय है। इस सन्दर्भ में प्रस्तुत चित्र (चित्र सं या-फ) कागज पर १५ × १५ से.मी. आकार में वॉश और टे परा माध्यम में बना है। अपने काव्यात्मक विषय संयोजन के लिए लोकप्रिय है। इसमें अग्रभूमि में खड़ी एक महिला प्रांगण में स्थित लयात्मक ढंग से आकर्षक और ल बे-पतले वृक्ष की कोमल शाखाओं से श्वेत पुष्प चुन रही है। वह पीले रंग के महीन किनारों वाली काले रंग की चुनरी ओढ़े हुए है जिसमें लगभग आधा केसरिया रंग का लहंगा ढँका हुआ है। पृष्ठभूमि में स्थापत्य कला की ज्यामितीय और सादगीपूर्ण संरचना बनी है जिसके पार्श्व में नीला आकाश झँक रहा है। इसमें ल बी और प्रवाहपूर्ण रेखाओं, सामंजस्यपूर्ण रंग योजना और लयात्मक आकृति संयोजन से किसी कवि की कल्पना के समान सुन्दर वातावरण की सृष्टि हुई है।

कैकेयी और दशरथ—क्षितिन्द्रनाथ की कला भाव व्यंजना की दृष्टि से अंतरंग

गहराई और मार्मिक गूढ़ता लिए हुए है। इस सन्दर्भ में प्रस्तुत चित्र (चित्र सं या-ब) उल्लेखनीय है। यह चित्र कागज पर २५.५ से.मी. आकार में वाँश और टे परा माध्यम में बना है। रामायण के कथानक पर आधृत इस चित्र में कैकेयी द्वारा बड़े पुत्र राम के लिए ऋ वर्ष का वनवास और उनसे छोटे पुत्र भरत के लिए राज्याभिषेक माँगने पर व्यथित महाराज दशरथ की पीड़ा व्यक्त हुई है। चित्र के मध्य में त ते पर घुटनों के बल बैठे हुए वयोवृद्ध दशरथ घुटने पर कोहनी टिकाए दाहिने हाथ से माथा पकड़कर बैठे हैं और बायें हाथ की अंगुलियाँ किसी अनिष्ट की अभिव्यक्ति कर रही हैं। गले में श्वेत रंग का दुपट्टा और कमर में श्वेत रंग की धोती पहने और गले तथा हाथों में आभूषण धारण किए हुए उनका व्यक्तित्व आकर्षक है। अग्रभूमि में कोने में फर्श पर बैठी रानी कैकेयी उनसे वर माँग रही है। वह गेरुए वर्ण की साड़ी ओढ़े दाहिने हाथ से पंखा झल रही है और उसके पास नीचे पानी इत्यादि के दो पात्र रखे हुए हैं। पृष्ठभूमि में दीवार में बनी खिड़की से पर्दा हटाकर इस स्थिति पर नज़र रखे हुए दासी मंथरा अंकित है। विकर्ण संयोजन के अनुरूप अंकित रूपाकृतियाँ और गहरी पृष्ठभूमि मार्मिक भावों को और अधिक सूक्ष्मता से व्यक्त कर रही है। विषयानुरूप रंग विधान और रेखांकन सुन्दर है।

यक्ष की पत्नी—क्षितिन्द्रनाथ ने इस चित्र का अंकन महाकवि कालिदास रचित 'मेघदूत' के द्वितीय खण्ड 'उत्तर मेघ' के कथानक के आधार पर किया है। यह चित्र कागज पर २५.५ से.मी. आकार में वाँश एवं टे परा माध्यम में अंकित है। इस चित्र में अलकापुरी के राजा कुबेर के श्राप से रामगिरि पर्वत पर एक वर्ष का वनवास काट रहे सेवक यक्ष की पत्नी का चित्रण हुआ है। यहाँ अग्रभूमि में नज़र आ रहे तोरण द्वार के एक स्तंभ के पास मंच पर चढ़ती यक्षिणी अपने पति यक्ष की राह तक रही है। उसके कृशकाय शरीर, झुकी हुई कमर, उदास-सी आँखों से उसकी विरह वेदना झलक रही है। हल्के पीले रंग की चुनरी और गेरुए रंग का लहंगा पहने आभूषणों से सुसज्जित यक्षिणी एक हाथ से अपने लहंगे का पल्लू सँभाले हुए है। तोरणद्वार के ऊपर कोने में बना हस्ति की मुखाकृति वाला शिल्प और पृष्ठभूमि में रात्रि के अन्धकार में नज़र आ रहे बादल और घुमावदार वृक्ष संयोजन को संतुलित कर रहे हैं। सामंजस्यपूर्ण रंगयोजना, कोमल एवं प्रवाहमय रेखांकन और भावों का प्रस्फुटन विषयानुकूल आकर्षक है।

शकुन्तला—क्षितिन्द्रनाथ द्वारा चित्रित यह चित्र कालिदास रचित 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के कथानक पर आधृत है। यह चित्र कागज पर २५.५ से.मी. आकार में वाँश पद्धति में बना है। यहाँ अग्रभूमि में शकुन्तला स मुख मुद्रा में खड़ी हुई है। वह

साड़ी पहने हुए है और उसके केश कमर तक झूल रहे हैं। उसका चेहरा पार्श्व मुद्रा में हल्का-सा झुका हुआ है। दाहिना हाथ सिर पर टिका हुआ है और बायें हाथ से कमर के बगल में लटक रहे केशों को पकड़े हुए है। झुके हुए चेहरे, बन्द नेत्र और शिथिल भंगिमाओं से राजा दुष्यन्त के विरह में संतप्त शकुन्तला की वेदना स्पष्ट झलकती है। तिर्यक रेखा से विभाजित पृष्ठभूमि गहरे वर्ण में सपाट बनी है। अग्रभूमि में धरातल पर उसके पैरों के नीचे एक छोटा-सा पौधा अंकित है। कागज पर रेखांकन करने के उपरान्त आवश्यकतानुसार रंगों के हल्के-गहरे बल पतले-पतले वॉश के रूप में लगाए हैं। दो-तीन बार ऐसा करने से रंगों में कोमलता तथा स पूर्ण चित्र में एक मिश्रित जैसा वातावरण बन गया है। अन्त में कोमलता से चित्र को पूर्ण कर दिया है। प्रेम का मधुर अवसाद लिए उनका यह चित्र भावपूर्ण है।

लक्ष्मी—क्षितीन्द्रनाथ के अन्तर्मन की संवेदनाओं के लोक से रचित पार परिक और पौराणिक भारतीय कला की आकृतियाँ और उनका रेखांकन और रंग संयोजन भी अनूठा है। यहाँ कागज पर रक्.मःफ.५ से.मी. आकार में टे परा माध्यम में देवी लक्ष्मी का उकेरा हुए उनका यह चित्र (चित्र सं या-५) उल्लेखनीय है। चित्र के केन्द्र में अपने वाहन उल्लू पर आसीन देवी लक्ष्मी की छवि अलौकिक है। सिर पर स्वर्ण मुकुट धारण किए हुए कमर पर लाल रंग की धोती बाँधे, हाथों और कन्धे पर झूलता महीन दुपट्टा, निर्वसन वक्ष और गले, कानों, हाथ-पैरों और कमर पर आभूषणों और सिर के पीछे लहराते केश और आभामण्डल से सुशोभित देवी लक्ष्मी दाहिने हाथ में स्वर्णकलश और बायें हाथ में कमल पुष्प को धारण किए हुए हैं। उनके चेहरे पर दिव्यता के भाव मुखरित है। उनका वाहन उल्लू पक्षी कम, आलेखन अधिक प्रतीत होता है। आकृति में शिल्प-सा गठन है। अग्रभूमि में कमल, शंख आदि आकृतियाँ आलेखननुमा अंकित है। पृष्ठभूमि में लाल, पीले और नीले रंग की पट्टीदार मिश्रित तह चित्र में सुन्दर, स्वप्निल-सा वातावरण लिए हुए हैं। आकर्षक रंग योजना और कुशल रेखांकन से चित्र अद्भुत बना है।

कब्र के बगल में—क्षितीन्द्रनाथ द्वारा सृजित सामाजिक सौहार्द्र की भावना पर आधारित यह चित्र अपनी विषय-वस्तु और संयोजन में अनूठा है। यह चित्र (चित्र सं या-८) कागज पर रक्.रु.रु.से.मी. आकार में वॉश और टे परा माध्यम में उकेरा गया है। चित्र के मध्य में सफेद दाढ़ीवाला एक वयोवृद्ध मुस्लिम व्यक्ति बैठा हुआ है। उसने काले रंग का कुर्ता, श्वेत पगड़ी जिसका पल्लू कन्धे से वक्ष तक लटक रहा है तथा श्वेत धोती पहनी हुई है। अपने घुटने मोड़कर बैठे हुए उसने अपना दाहिना हाथ घुटने पर तथा बायें हाथ से गहरे भूरे रंग की बनी हुई बगल में रखी पोटली का मुँह पकड़ा हुआ

है। पार्श्व मुद्रा में उसका झुका हुआ चेहरा और गमगीन आँखें भावपूर्ण हैं। उसके पास अग्रभूमि में एक सन्त बालक पार्श्व मुद्रा में घुटनों के बल बैठा हुआ है। मुंडा हुआ सिर, ललाट पर चन्दन का तिलक लगाए, गले में पीला दुपट्टा और गेरुआ ल बा चोगा पहने, हाथों में कटोरानुमा पात्र लिए हुए वह शान्त भाव से बैठा है। पृष्ठभूमि में सफेद चूने से पुती कब्र की सादा वास्तु संरचना, उसकी एक दीवार पर बिल्लीनुमा सफेद आकृति और पार्श्व में रात्रि के गहन अँधेरे में नज़र आता वृक्ष रहस्यमय वातावरण की सृष्टि कर रहे हैं। हिन्दू-मुस्लिम व्यक्तियों का एक साथ किसी दुःख में शरीक होना सामाजिक सौहार्द्र को बढ़ाता है। यह चित्र भावपूर्ण विषय निरूपण के साथ रंग और रेखाओं की मौलिकता की दृष्टि से भी अनुपम है।

संदर्भ ग्रन्थ

- क. संपा. ज्योतिष जोशी: कला पद्धति, यश पब्लिकेशन्स, दिल्ली, खक, पृष्ठ सं या-खखक
 ख. डॉ. नैन भटनागर; डॉ. जगदीश चन्द्रिकेश: बंगाल शैली की चित्रकला, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, खक, पृष्ठ सं या-भक
 फ. वही
 ब. संपा. ज्योतिष जोशी: कला पद्धति, यश पब्लिकेशन्स, दिल्ली, खक, पृष्ठ सं या-खखक
 भ. डॉ. गिर्राजकिशोर अग्रवाल: कला और कलम, अशोक प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़, खक, पृष्ठ सं या-खक
 म. संपा. शुक्रदेव श्रोत्रिय: बंगाल चित्रशैली और उसके प्रमुख चित्रकार, चित्रायन प्रकाशन, मुज



चित्र सं या - क (रासलीला)



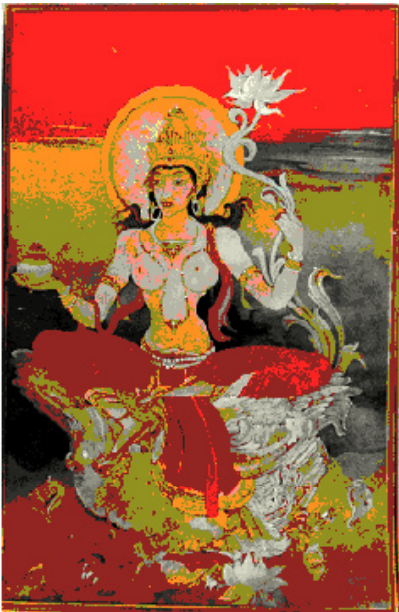
चित्र सं या - ख (पालतू हिरण)



चित्र सं या - प (फूल तोड़ती महिला)



चित्र सं या - ष (कैकेयी और दशरथ)



चित्र सं या - ५ (लक्ष्मी)



चित्र सं या - ८ (कब्र के बगल में)

महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक (हरियाणा)
विज्ञान अर्द्धस विभाग
विवृत्त अर्द्धस विभाग
महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक (हरियाणा)

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. A
Sr. 9, 2016
ISSN : 2277-419X

जैन धर्म का इतिहास दक द्युत्तर व/; ; u

अम्बाला एक प्राचीन ऐतिहासिक नगर है। राष्ट्रीय राजमार्ग नं० 1 पर स्थित वर्तमान अम्बाला हरियाणा प्रदेश का उच्च वर्गीय नगर है। इस नगर की स्थापना 14 वीं शताब्दी में अम्बा राजपूत द्वारा की गयी थी। जिससे इसका नाम अम्बाला पडा। कहा जाता है कि इस नगर का नाम अम्बा के नाम पर पडा जिनका मन्दिर नगर में आज भी स्थित है। इस नगर के उत्तर में शिवालिक की पहाडियां और पंचकूला, दक्षिण में कुरुक्षेत्र, पूर्व में यमुनानगर और पश्चिम में पटियाला स्थित है। इस नगर का क्षेत्रफल 1574 वर्ग किलोमीटर है। 2011 जनगणना के अनुसार, अम्बाला नगर की जनसंख्या 2,07,934 है।

हरियाणा क्षेत्र की वास्तुकला वर्तमान परिस्थितियों में कई एक महत्वपूर्ण लक्षणों के कारण अपने आप में एक महत्वपूर्ण शैली बन गई। विशेषकर इस क्षेत्र में मन्दिर, मस्जिद, मठ, दरगाह, चर्च, और गुरुद्वारे अपनी श्रेणी में अकेले ही है। इनमें हिन्दु वास्तुकला, इस्लाम वास्तुकला तथा युनानी वास्तुकला के सिद्धान्तों का परस्पर संबंध ऐसे ढंग से हुआ है कि इस प्रकार के मन्दिर, मस्जिद और कहीं नहीं मिलते। जैन वास्तुकला में गुफा के क्षेत्र में सबसे प्राचीन व प्रसिद्ध जैन गुफाएं बारबर व नागा. जूनी पहाडियों पर स्थित है। दक्षिण में सित्तनवासल में बनी जैन कला का अद्भुत व महत्वपूर्ण उदाहरण है। प्राचीन भारत के लगभग समस्त कलात्मक अवशेषों की प्रकृति धार्मिक है अथवा उनकी रचना धार्मिक उद्देश्यों से ही हुई थी। धर्मनिरपेक्ष कला भी अवश्य ही थी क्योंकि हमें साहित्य से ज्ञान कि तीर्थकरों की सादी प्रतिमाओं के आवासग्रहों को सजाने में जैनाश्रित कला ने विकास की उत्कृष्ट चरम सीमा को छुआ है। भारतवर्ष के चारों कोनों में जैन मन्दिरों की अद्वितीय इमारतें आज भी खडी हुई है। परंतु इसमें कुछ आज नष्ट होती जा रही है। परंतु इनमें से अम्बाला का सुपार्श्वनाथ मंदिर आज भी काफी उचित अवस्था में है इस मन्दिर को जैनियों द्वारा बनाया गया था जोकि पूर्ण रूप से साज-सज्जा से परिपूर्ण है। इसका काफी हिस्सा आज भी सुरक्षित है।

सुपार्श्वनाथ जैन श्वेताम्बर मंदिर का इतिहास

यह मन्दिर अम्बाला षहर में जैन नगर में स्थित सुपार्षनाथ मंदिर लगभग 125 साल पुराना है। परम् पूज्य जैनाचार्य श्रीमद् विजयानंद सुरीष्वर जी महाराज के द्वारा सुपार्षनाथ मंदिर की प्रतिष्ठा करवाई गई थी। यह तीन मंजिल मंदिर एक भवन की तरह दिखता है। यह मंदिर आयताकार आकृति में बना हुआ है। जिसका क्षेत्रफल 40x60 फुट है। इसके भीतर भगवान सुपार्षनाथ की बहुत बड़ी मूर्ति बनाई गई है। इनके दाएं और बाएं अजितनाथ, विमलनाथ, महावीर जी की मूर्तियां हैं इसके बाएं तरफ त्रिगड़ा (l eol j.k) gS t gla पर स्नातक पूजा होती है। यह एक धातु का बना है, जिसमें अगबत्ती लगाकर श्रद्धालु अपने चौबीस तीर्थकरों की पूजा करते हैं।



मंदिर के बीच में गुम्बज में एक घण्टा लगा है जोकि बहुत अलंकारिक है। इसके दाएं तरफ एक बड़ा हॉल है जहां पर भगवान पाषाणाथ को बड़े उंचे और अलंकारिक सिंहसन पर बैठे दिखाया गया है। इस हॉल की चारों दीवारों पर भित्ति-चित्र के सुन्दर दृश्य देखने का मिलता है। इसके दाएं तरफ दूसरी ओर षानदार भवन है। जिसको विश्राम गृह कहा जाता था। आजकल यह भवन जैन स्थानक के रूप में स्थित है। जोकि हल्के पीले रंग का है। मंदिर के बाए तरफ की दीवार पर चौबीस तीर्थकरों की मूर्तियां कुछ छोटे आलों में तथा कुछ बड़े आलों में बनाई गई हैं जो साज-सज्जा से परिपूर्ण हैं।



मंदिर के प्रमुख द्वार को बहुत अलंकारिक बनाया गया है। इस द्वार की गेरु, हरा, पीला, आदि रंगों से सजावट की गई है। जो देखने में बहुत सुन्दर लगती है। इनमें सुन्दर यक्ष-यक्षिणियों की आकृतियां भी बनाई गई हैं। प्रवेश द्वार में प्रवेश करते ही सामने लकड़ी का फट्टानुमा पद-स्थापित किया हुआ है जिस पर णमोकार मंत्र सुनहरी अक्षरों में गड़ा गया है। जिसे चारों ओर से छोटे आकार के फूल-पत्तियों की बेलों से सजाया गया है। मुख्य द्वार के दोनों तरफ हाथियों की आकृतियां बड़े आकार में बनाई गई हैं।

उन्हे आभूषणों से अलंकृत किया गया है।

मंदिर का प्रमुख द्वार उत्तर दिशा में है। मंदिर में सामने उपर की तरफ कुछ खिडकियां बनाई गई है जोकि अंत्यत प्राचीन ढंग की प्रतीत होती है। यह मंदिर छोटी ईंटों द्वारा निर्मित है। इस मंदिर को नवीन रंगों से पेन्ट किया गया है। हाल के मध्य में ताजी हवा और प्रकाश आने के लिए दो बड़े दरवाजे है जिन पर आकर्शक काश्ट कार्य किया गया है। दूसरी मंजिल में पांच स्तम्भ बने है। इन पांचों स्तम्भों पर बड़े कमल के आकार बनाए गए है। मंदिर की अधिकतर दीवारें अलंकरणों से परिपूर्ण है जोकि समय अनुसार कुछ खराब हो चुकी है। किंतु इसकी देखभाल



अच्छे से होने के कारण ये चित्र आज भी आकर्शक दिखाई पड़ते हैं। चित्रों के रूप में त्रिषला माता के स्वप्न दर्शन , भगवान नेमिनाथ की बारात, महावीर के जीवन से संबधित तथा फूल पत्तियों आदि को संयोजित किया गया है।ये सभी चित्र देखने में अत्याधिक सुन्दर लगते है। उनके रंग पहले की तुलना में आज काफी हल्के दिखाई पड़ते है। पूरा मंदिर नक्काशी व चित्रों से परिपूर्ण है। इस चित्र में त्रिषला माता को एक अलंकारिक पलंग पर तकिये का सहारा लेकर लेटे हुए दिखाया गया है जोकि गर्भवती है। यह दृष्य त्रिषला

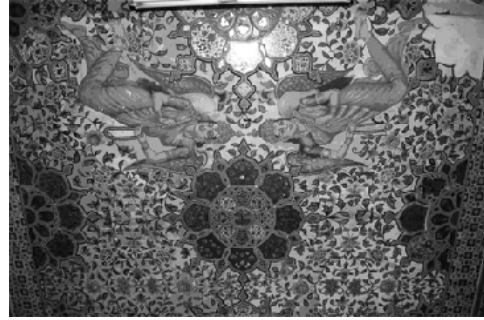


माता स्वप्न का है। महावीर का गर्भ में आने पर त्रिषला माता द्वारा देखे गये 14 स्वप्नों को दिखाया है जिनमें हाथी, वृशभ, सिंह, लक्ष्मी, पुष्पमाला, चन्द्रमा, सूर्य, ६ वजा, कलष, पद्मसरोवर, समुद्र, विमान, रत्नराषि, अग्नि है। मंदिर में तरह-तरह के अनेक भित्ति चित्रों को दीवारों पर उपर से नीचे तक बनाया गया है जिससे मन्दिर काफी अलंकारिक प्रतीत होता है। मन्दिर में कुछ चित्र तो आज नश्ट हो गए है। परन्तु कुछ आज भी पहले वाली अवस्था में ही प्रतीत होते है। कलान्तर में लगभग नवम् दशम् शतक के पश्चात भित्ति-चित्र का स्थान लघु चित्रों, ताडपत्र, भोजपत्र, पट चित्र, काश्ट फलक आदि ने ग्रहण कर लिया। मन्दिर में बने तीर्थकर तथा मनुश्यों के चित्र जिनमें एक प्रकार की गतिशीलता दिखाई पड़ती है, इन में भारतीय चित्रों

की प्राचीन परम्परायें स्पष्ट प्रमाणित होती हैं। इस भित्ति-चित्रों प्राप्ति स्थानों में प्रमुखतः भवनों की बाह्य दीवारों पर, अटारी पर, भीतरी दीवारों पर, भीतरी छतों पर भित्ति-चित्र बनाए गए हैं। भित्ति-चित्रों के रख-रखाव की जानकारी न होने के कारण व इनके प्रति उदासीनता का रूख होने के कारण ये समूल नष्ट हो रहे हैं और जो पेश बचे हैं वे आगामी 10 सालों में विलुप्त हो जाएंगे। मंदिर की प्रमुख दीवार के साथ ही एक जैन प्हेताम्बर स्थानक है। मंदिर के सामने की तरफ एक खण्डित पुरानी इमारत है। जिसके कुछ अवशेष आज भी दिखाई पड़ते हैं।

o. k ; kt uk

मंदिर के भित्ति-चित्रों में वर्ण योजना दर्शकों को अपनी ओर आकर्षित करती है। इनमें पीला, लाल, हरा व सफेद बहुतायत से प्रयोग किये गये हैं। इन चित्रों में वर्ण योजना के दो वर्ण देखे जाते हैं वर्ण योजना के पहले वर्ग में चमकदार व चटकीले रंगों का प्रयोग किया गया है तथा दूसरे वर्ग में सरलता एवं सौम्यता का आभास होता है। अम्बाला जिले के मंदिरों में पाए जाने वाले भित्ति-चित्र अन्य शहरी क्षेत्रों की तुलना में अच्छी अवस्था में पाए गए हैं क्योंकि शहरी क्षेत्रों में रंगों की पुताई व बार-बार रंगों को कराने के कारण भित्ति-चित्रों की स्थिति मृतप्रायः हो गयी है जबकि इस प्रकार के नवीनकरण से वंचित रहने के कारण सुरक्षित बचे हैं।



Z / ' c'e'

s r'f'lj eg'loj th ds thou l s l 'cf/kr fp=

s r'f'lj l q'oz'k' th ds thou l s l 'cf/kr fp=

s f='kyk ek'k ds Lolu dk n";

s Qy i fr; ka

s /o' /Z' / g'X' X'm'Z' / U

s uehuk'k dh ck'kr dk fp=

s j 6j'b' f' NX' Z1'

s ikp ik'ola dk fp=

- s ryBh dk efnj
- s T; kelfr; vȳdj.k
- s vŪ

जैन धर्म में विभाजन

t Śi /leZ dk i p k j c < u s l s H n H h c < k v k s t Śi l 2 k d b Z l E i z k k a
Y V U I / _ Z i Y j c f 9 W j _ G H 9 W a M G i V ^ [G
H G # N ^ U c g 9 W Q U H 9 W Ø

s **c f 9 W / h g ^ E j c a ^] [i f g] G**

s fnxĒcj & t k vĒcj (vĒĒeku) dks vius oL= ekurs gā os oL=g hu
 jgrs gā

जैन धर्म की भारतीय कला और संस्कृति को देन

s m M h l k d s i g h f t y s e a m n ; f x f j v k s [k M x f j e a l c l s i k p h u
 35 t Śi x Q k a g ā

s , y k j k e a d b Z t Śi x Q k a g ā

s e / ; H j r e a [k t j l g a e a d b Z t Śi e f n j g ā (n l o h a o X ; k j o h a
f _ B L

s **^ h c _ i ^ Y j _ W] c N] ^ W g [Z m A ^ X g M ^ ^ h G # N X ^**
@ N g 6 a b [^ _ [G H ^ c U g f g ^ U f _ B ^ L ^

s d k B ; k o M d h f x j u k j v k s i k y r k u k i g k M ; k a i j] j k u d i g]
 i k j l u k k J o . k c y x k y k e a t Śi e f n j k a d s o r l e g c u s g q g ā

s **f h / ^] [A ^] ^) \$ \$ Y B ^ [G / [_ U h G f ^ N j p X ^ d f e D ^**
 e f r Z k H h f e y r h g ā

s अपभ्रंष षैली & अपभ्रंष षैली **X g Z i ^ j Z N f ^ c f 9 W h E / j q**
 k j k f y f [k r x i F h a e a r F k x i F h a i j v k h j r r k M + i = k a i j i k a x , g ā
^ Z i ^ h G] g / U ^ V ^ G i X g [Y ^ g ^ Y g] f f ^ X f ^ [G V ^
G i X g Z i ^ f A Z] i Q X] h Q X _ 6] ^ Z h f ^ [G j ^ 9 ^ Y V ^ G i
X g h G G i X] _ 1 / _ : 5

जैन धर्म की देन भारतीय कला एवं संस्कृति को अद्वितीय है। जैन धर्म ने अन्य धर्मों की कला के विकास में भी महत्पूर्ण योगदान दिया है। जैसे की मुगल

कालीन और राजपूत षैलियों की कला के विकास में भी महत्त्वपूर्ण तत्व मिले हैं। इस षोध का उद्देश्य लुप्त होती हुई कला पर प्रकाश डालना है। अम्बाला जिले का "श्री सुपार्ष्वनाथ जैन ष्वेताम्बर मन्दिर" अपने आप में अद्भूत विरासत सजोए हुए है। कला के क्षेत्र में षोध के अभाव के कारण इस मन्दिर का ज्यादा आस्तित्व में नहीं है। इस षोध पत्र द्वारा इस मन्दिर का कलात्मक इतिहास सामने लाने का प्रयास किया गया है। इस मन्दिर की मूर्तियां भित्ति चित्र व खुदाई इतनी अद्भूत व आकर्षित है। जो कि हमे खुजराहो, अजन्ता, एलोरा गुफाओं की याद दिलाती है। इस मन्दिर के भित्ति चित्रों में सर्वाधिक भित्ति- चित्र तीर्थंकर महावीर व सुपार्ष्वनाथ के जीवन से सम्बंधित पाए गए हैं। मन्दिर के कुछ भित्ति चित्र तो सुरक्षित पाए गए हैं। परन्तु कुछ भित्ति चित्र देखभाल न हो सकने के कारण लगभग लुप्त होने वाले हैं। हमें अपनी विरासत को बचाए रखने के लिए अपनी संस्कृति एवं इतिहास से जुड़े रहना चाहिए।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. प्रभा, डॉ. नीलाम : "हरियाणा एसाइक्लोपीडिया - 1 भूगोल" भाग - 1, पृ. सं. 15,16
2. यादव, के. सी. : ". हरियाणा इतिहास एवं संस्कृति", पृ. सं. 221-223
3. जैन, पुरुषोत्तम, रविन्द्र जैन : "भगवान महावीर जीवन चरित्र", पृ. सं. 10, 6-8,45
4. जैन, प्रो. भागचन्द्र भास्कर : "जैन संस्कृति, कोष भाग -1"
5. षास्त्री, श्री देवेन्द्र मुनि, बत्तरा, डॉ. ए.डी. : "श्री पुष्पकर मुनि अभिनंदन ग्रंथ", पृ. सं. 395,396
6. प्रताप, डॉ. रीता : "भारतीय चित्रकला व मूर्तिकला का इतिहास"
7. कनिंघम, अलैकजैडर, 1870-74: "अम्बाला डिस्टिक गैजेटियर"



राजेन्द्र प्रसाद
सहायक आचार्य, चित्रकला विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. A
Sr. 9, 2016
ISSN : 2277-419X

‘उत्तराध्ययन—सूत्र’ की पाण्डुलिपियों में अंकित मानवाकृतियाँ

कला कल्याण की जननी है। इस धरती पर मनुष्य की उदय—बेला का इतिहास कला के द्वारा ही रूपायित हुआ है। कला इस विराट विश्व की सर्जना शक्ति होने के कारण सृष्टि के समस्त पदार्थों में व्याप्त है। वह अनन्तरूपा है और उसके इन अनन्त रूपों की अभिव्यक्ति एवं निष्पत्ति का आधार कलाकार (परमेश्वर) है। जितने भी तत्त्ववित, साहित्यसृष्टा और कलासाधक हुए, उन सबने भिन्न—भिन्न मार्गों का अवलम्ब लेकर उसी एकमेव लक्ष्य का अनुसन्धान किया। विभिन्न युगों में कला के रूप की परिकल्पना विभिन्न दृष्टिकोणों से की जाती रही है।¹

चित्रकार सतत् अभ्यास के बल पर एक ऐसी प्रविधि एवं विधान को जन्म देता है जो उसके भावों, संवेदनाओं तथा अनुभवों के प्रकाशन में सशक्त माध्यम बन सके। उसने रंगों की तकनीक में निरन्तर विकास किया, तूलिका निर्माण के नये—नये तरीके सुझाये एवं आलेख्य स्थान (भूमि) की तैयारी में नये—नये प्रयोग किये हैं। चित्रोपम—तत्त्वों के भिन्न—भिन्न संयोजनों से अनेक चित्र—शैलियों का विकास हुआ है। संसाधनों की तकनीक एवं चित्र—संयोजन के विकास क्रम से युग—युगान्तर में कितने अनुभव व ज्ञान संचित किए हैं, फिर भी नये—नये आविष्कार एवं नूतन प्रयोग की लालसा और संभावना के लिए हमारी छटपटाहट कभी कम नहीं होती। यही कारण है किसी देश की चित्रकला किसी युग में मापदण्ड से बंधकर नहीं चली, न भविष्य में चल सकेगी। भारतीय इतिहास के झरोखे से हमें अपने भारतीय शिल्प के विविध मनमोहन रूप दिखाई देते हैं, उनमें प्रयुक्त प्रविधि व शैलीगत तत्त्वों के अनेक संद. भों का भारतीय शिल्पशास्त्रों एवं साहित्य में उल्लेख मिलता है। समरांगण सूत्रधार, विष्णुधर्मोत्तरपुराण, शिल्परत्नम् आदि शिल्प ग्रन्थों में तथा संस्कृत—साहित्य में कला तत्त्वों के अनेक उल्लेख मिलते हैं। समरांगण सूत्रधार में आठ अंगों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है। यथा— वर्तया: लेख्यं, वर्णक्रम, लेखनं, कृतबन्ध, रेखाक्रम, वर्तनाक्रम, आकृतिमान।² वात्स्यायन के कामसूत्र में वर्णित 64 कलाओं में चित्रकला (आलेख्यम) का चौथा स्थान है। यशोधर पण्डित की टीका ‘जयमंगला’ में चित्रकला के छः अंगों का वर्णन है। जो इस प्रकार है : रूपभेदाः प्रमाणानि भाव लावण्य

योजनम्। सादृश्य वर्णिका भंग इति चित्र षड्गकम्॥

अजन्ता व बाघ की चित्रकला में हम देखते हैं कि इन षड्गों का बड़ी सावधानी से पालन किया गया है। इन षड्गों का पालन किये बिना जो चित्र बनते थे उन्हें चित्र की संज्ञा देना भी उचित नहीं समझा जाता था। इन्हीं षड्गों का पालन इसके बाद चित्रकला के सभी वर्गों में किया जाने लगा।³ महानतम कलात्मक शक्तियाँ, अपनी उचित और वास्तविक अभिव्यक्ति के लिए, उतनी ही अच्छी प्रकार की तकनीकी की अपेक्षा रखती है जितनी अच्छी वे स्वयं हैं।⁴ रूपाकृतियों को वर्णित करने से पहले 'रूप' को समझना जरूरी होगा। रेखाओं के संयोजन को रूप कहते हैं। यह वह क्षेत्र है, जिसका निश्चित वर्ण व आकार होता है।⁵ रूप अनन्त है। उसको किसी परिधि में नहीं बांधा जा सकता। रूप की पहचान के दो माध्यम हैं : एक तो आँखों के द्वारा और दूसरा आत्मा के द्वारा। इस नाना रूप जगत् को भिन्न-भिन्न प्रकार से देखना ओर इस अखण्ड भिन्नता को एक ही में समाहित करके देखना, ये दोनों बातें आँखों और आत्मा के द्वारा सम्भव है। रूप से पहला परिचय आँखों का होता है और धीरे-धीरे उससे आत्मा का परिचय होता है। किसी भी कलाकृति के बाह्याभ्यन्तर की परीक्षा हम देखकर करें या मस्तिष्क के द्वारा करें, दोनों दशाओं में हमारे अन्दर रुचि का होना आवश्यक है। जिस समय हम किसी वस्तु को देखते हैं और उसमें निहित रुचि हमारे भीतर की रुचि से मिल जाती है तभी हम उस कृति की वास्तविक सुन्दरता या असुन्दरता का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।⁶ महाभारत के शान्तिपर्व में 16 प्रकार के रूप बताये गये हैं। जिनमें छोटे, लम्बे, पतले, कोणकार आदि हैं।⁷ हर प्रकार की आकृतियों और उनकी विशेषताओं का विभेद। इसमें मानव आकृति के लक्षण तथा अभिजात भी सम्मिलित हैं। लक्षण से तात्पर्य हिन्दु सामुद्रिक की उन विशेषताओं से है जिनके होने से मनुष्य, राजा, महापुरुष, योगी व योद्धा इत्यादि होता है।⁸ भारतीय चित्रकला में तेरह प्रकार की प्रमुख आकृतियाँ बतायी गई हैं। ये तेरह प्रकार की आकृतियाँ भी अवस्था विशेष के कारण कई गुनी हो जाती हैं। इन तेरह प्रकार की प्रमुख आकृतियों के नाम हैं : (1) ऋज्वागत (सामने का आकार), (2) अनृजु (पृष्ठभाग), (3) सांचीकृत शरीर (झुके हुए शरीर वाला आकार), (4) अर्ध विलोचन (एक आँख युक्त), (5) पार्श्वगत (एक पार्श्व युक्त), (6) पुरावृत्त (एक कपोल युक्त), (7) पृष्ठागत (शरीर का पृष्ठभाग), (8) परिवृत्त (गोलाकृति), (9) समानत (पूर्णतया झुका हुआ शरीर), (10) समाभंग या समापट्ट (दायाँ-बायाँ भाग एक समान), (11) अभंग (दाहिनी ओर झुका हुआ शरीर का ऊपरी भाग), (12) त्रिभंग (अंग्रेजी के सी अक्षर के समान आकृति), और (13) अतिभंग (शरीर के अतिशय रूप से झुका होना)।⁹

जैन पाण्डुलिपि चित्रण परम्परा में मानवाकृतियों का अंकन बहुतायत से हुआ था। 11वीं शती से 18वीं शती तक मिली हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ (सचित्र) इसकी प्रमाण हैं। ये मानवाकृतियाँ पाण्डुलिपि के बीच-बीच में छोड़े गए स्थान पर बनी हुई हैं। इन चित्रों में दो प्रकार की शैली का प्रयोग हुआ है। एक, पुरानी गुजराती अर्थात् अपभ्रंश शैली और दो, बाद की मिश्रित शैली में बने चित्र। अपभ्रंश शैली में चित्रों में आकृतियाँ ऐंठी हुई, कपड़े के गुड़ड़े-गुड़ियों के जैसी, कान तक पहुँचे दीर्घ नेत्र, सवाचश्म चेहरे, परली आँख गाल की सीमान्त रेखा से बाहर निकली हुई, आदि सभी विशेषताएँ उनमें समाहित हैं¹⁰ परन्तु कालान्तर में इन चित्रों में बदलाव आया और चित्रों को आनुपातिक, संयोजन व भावों की दृष्टि से सुन्दर बनाये जाने लगा। अन्य समकालीन शैलियों का इन पर मिश्रित प्रभाव रहा। ‘उत्तराध्ययन-सूत्र’ की सचित्र पाण्डुलिपियों में मिले चित्रों में मानवाकृतियों का चित्रण बहुतायत से हुआ है। अध्ययन की सरलता व सुगमता के लिए विभिन्न स्थानों से प्राप्त ‘उत्तराध्ययन-सूत्र’ की सचित्र पाण्डुलिपियों में अंकित मानवाकृतियों (रूपाकृतियाँ) का कलागत वैशिष्ट्य के आधार पर अध्ययन किया गया है। यथा—

(1) ‘उत्तराध्ययन-सूत्र’ टीका सहित (ग्रन्थ क्रमांक 17300) – कालक्रम के आधार पर यह प्रति 1602 वि.सं. की है। इस पाण्डुलिपि से प्राप्त चित्रों में बनी मानवाकृतियों के अंकन में चुकीलापन, विस्फारित दीर्घ आँखें, चेहरा पूर्ण व तीक्ष्ण नासिका है। आनुपातिक दृष्टि से मानवाकृतियाँ ठीक-ठाक है। कमर पतली बनाई गई है। डॉ. मोतीचन्द्र द्वारा बताई गई विशेषताओं पर आधारित अपभ्रंश शैली से ये चित्र प्रभावित हैं।¹¹ छाया-प्रकाश का अभाव है। सीधा और सरल रेखांकन इन मानकृतियों की विशेषता है। हाथों व पांवों की अंगुलियाँ लम्बाई में एक समान बनी हुई हैं। पुरुष आकृतियों को छोटे कद का बनाया गया है।¹² यहाँ संयोजन सरल व भीड़-भाड़ से युक्त है।¹³



चित्र संख्या-1 : ‘तीर्थकर’ (श्री पार्श्वनाथ भगवान), ‘उत्तराध्ययन-सूत्र’ टीका सहित, 1602 वि.स., रा.प्रा.वि.प्र., जोधपुर (राजस्थान)

(2) ‘उत्तराध्ययन-सूत्र’ (ग्रन्थ क्रमांक 7765) – कालक्रम के आधार पर यह

पाण्डुलिपि 17वीं शती में चित्रित उपरोक्त पाण्डुलिपि की मानवाकृतियों के अंकन में चेहरा सम्मुख व गोलाई युक्त, गोल नासिका, विस्फारित नेत्र, टुड्डी उल्टे आठ अंक की तरह, हाथ गोलाई लिये, पतली कमर, बड़े-बड़े कान, भोंहे ऊपर की ओर मुड़ी हुई (किनारे से) चित्रित हैं। आभूषण बारीक व लम्बे लटकते हुए चित्रित हैं। इस पाण्डुलिपि के दोनों चित्रों में तीर्थकर (भगवान) बने हुए हैं। पृष्ठभूमि में बनी अन्य छोटी-छोटी मानवाकृतियों के अंकन में नुकीलापन, अधर में झूलती सी परली आँख का चित्रण, सवाचश्मी चेहरा व तीक्ष्ण नासिका आदि विशेषताओं पर आधारित अपभ्रंश शैली से ये चित्र प्रभावित हैं।

(3) 'उत्तराध्ययन-सूत्र' बालाबोध सहित (ग्रन्थ क्रमांक 21274) – प्रस्तुत पाण्डुलिपि का रचनाकाल 17वीं शती है। इसमें चित्रों की बहुलता नगण्य है। कुल दो चित्र मिले हैं। जिसमें एक अलंकरण है किन्तु एक चित्र में लगभग 40 मानवाकृतियाँ बनी हुई है। जिसमें 24 तीर्थकर भी बने हैं। केन्द्र में एक वृत्त बनाकर प्रभाविता के नियम का पालन किया है। अन्य तीर्थकर आकृतियाँ व मानवाकृतियाँ छोटे-छोटे खण्डों में विभक्त बने हैं। जिसमें चार तीर्थकर आकृति मुख्य (केन्द्र) आकृति जितनी बड़ी है। मानवाकृतियों के अंकन में नुकीलापन, अधर में झूलती सी परली आँख (छोटी मानवाकृतियाँ,) सवाचश्मीय चेहरों के साथ-साथ तीर्थकर आकृतियों में गोल चेहरा, तीक्ष्ण नासिका, कर्ण तक पहुँचे हुए विस्फारित नेत्र, पतली कमर, उन्नत व विस्मृत वक्ष आदि देहांकन सम्बन्धी सभी विशेषताएँ मूलतः अपभ्रंश तथा उसकी निकटवर्ती शैली से प्रभावित प्रतीत होती है।

(4) 'उत्तराध्ययन सूत्र' (ग्रन्थ क्रमांक 35229) – 'उत्तराध्ययन-सूत्र' की उक्त पाण्डुलिपि का काल अप्राप्त है पर चित्रों में अंकित मानवाकृतियों की बनावट व शैली के अनुसार यह प्रारम्भिक काल में चित्रित लगती है। मानवाकृतियों में खाली जगह से निकली हुई परली आँख, नुकीली नाक, दोहरी टुड्डी, मुड़े हुए हाथ तथा ऐंठी अंगुलियाँ, अप्राकृतिक रूप से उभरी हुई छाती¹⁴, सवाचश्मीय चेहरा व तीक्ष्ण नासिका आदि (डॉ. मोतीचन्द्र द्वारा बताई गई)¹⁵ विशेषताओं पर आधारित अपभ्रंश शैली से प्रभावित है। शरीराकृति कहीं-कहीं गोल व कोणीय बनी हुई है। छाया-प्रकाश का मानवाकृतियों में अभाव है। मानवाकृतियाँ आनुपातिक दृष्टि से कमजोर है।



चित्र संख्या-2 : ‘अष्टप्रवचनम्’ (समितीय), अष्ट प्रवचनमाताएँ, समिति और गु. प्ति में अन्तर को प्रधानता से बताया गया है। ‘उत्तराध्ययन-सूत्र’, समय अज्ञात, रा.प्रा.वि.प्र., जोधपुर (राजस्थान)

(5) ‘उत्तराध्ययन-सूत्र’ (ग्रन्थ क्रमांक 13499) – उक्त पाण्डुलिपि का रचनाकाल 16वीं शताब्दी है। यह पाण्डुलिपि अच्छी स्थिति में एवं दुर्लभ है। इसमें बने सभी चित्र मुगल काल से पहले के हैं। प्राप्त पाण्डुलिपि में चित्रित मानवाकृतियों के अंकन में सवाचश्म व कहीं-कहीं सम्मुख चेहरा (पूर्ण), परली आँख का चित्रण, तीखी नाक, स्त्री आकृतियों में कर्णस्पर्शी आँखों के काजल कान तक गई रेखा, दुहरी टुड्डी, मुड़े हुए हाथ तथा ऐंठी अंगुलियाँ, उभरी हुई छाती, धरातल पर अनेक दृश्यों का अंकन, पुरुषों का परला वक्ष गोल और ऐंठा उठा हुआ बनाया जाता है जैसे स्त्रियों के स्तन हो, पेट कृश और पिचका हुआ¹⁶ चित्रित किया गया है। ये सभी चित्र अपनी विशेषताओं के आधार पर जैन शैली से प्रभावित हैं। मानवाकृतियों में चटक व स्वर्ण रंग का प्रयोग हुआ है। जैन शली के चित्रों में आँखों की बनावट भी दर्शनीय है। यह चक्षु-निर्माण-शैली वस्तुतः जनचित्रों की देन न होकर जैनशिल्प एवं स्थापत्य की देन है, जिसको कि जैन प्रतिमाओं में देखा जा सकता है।¹⁷



चित्र संख्या-3 : ‘विनयसूत्रम्’, अविनीत और विनीत शिष्य, ‘उत्तराध्ययन-सूत्र’, 16वीं शताब्दी (पूर्व मुगल), रा.प्रा.वि.प्र., बीकानेर (राजस्थान)

(6) ‘उत्तराध्ययन सूत्र’ लघुवृत्ति सहित (ग्रन्थ क्रमांक 13041) – कालक्रम के आधार पर यह पाण्डुलिपि 17वीं शती (पूर्व मुगल) में निर्मित है। मानवाकृतियाँ निश्चित

मुद्राओं में बनी है। मानवाकृतियों में खुली हुई स्थिर आँखें, दुहरी टुड्डी, कान तक गई आँखों के काजल की रेखा, लम्बा व तीखा नाक, कंधे अधिक चौड़े पेट पतले व क्षीण,¹⁸ मुड़े हुए हाथ, हाथ-पावों की ऐंठी अंगुलियाँ चित्रित की गई है। अपनी विशेषताओं के आधार पर ये चित्र जैन शैली से प्रभावित है जो उक्त पाण्डुलिपि पर लिखित भी है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'उत्तराध्ययन-सूत्र' की पाण्डुलिपियों में अंकित मानवाकृतियाँ तद्युगीन समय में ही नहीं बल्कि चित्रकला के वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भी सारगर्भित एवं सार्थक हैं।

संदर्भ :

1. गैरोला, वाचस्पति; भारतीय चित्रकला का संक्षिप्त इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2009, पृ. 11
2. अग्रवाल, आर.ए.; कला विलास : भारतीय चित्रकला का विवेचन, डी.एस.ए. बुक्स इंटरनेशनल, मेरठ, 2015, पृ. 224
3. शर्मा, लोकेश चन्द्र; भारत की चित्रकला का संक्षिप्त इतिहास, कृष्णा प्रकाशन मीडिया प्रा.लि., मेरठ, 1970, पृ. 23
4. कलिंगवुड, आर.जी. एवं डॉ. ब्रजभूषण पालीवाल (अनु.); कला के सिद्धान्त, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1972, पृ. 13
5. गर्ग, कमला; यशोधर चरित : सचित्र पाण्डुलिपियाँ, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1991, पृ. 66
6. गैरोला, वाचस्पति; (संपा. रायकृष्णदास) भारतीय चित्रकला, मित्र प्रकाशन, प्रा.लि., इलाहाबाद, 1963, पृ. 49
7. शर्मा, लोकेश चन्द्र; भारत की चित्रकला का संक्षिप्त इतिहास, गोयल पब्लिशिंग हाउस, मेरठ, 1970, पृ. 23
8. राय, कृष्णदास; भारत की चित्रकला, भारती भंडार लीडर प्रेस, इलाहाबाद, 2023 वि.सं., पृ. 4
9. गैरोला, वाचस्पति; (संपा. रायकृष्णदास) भारतीय चित्रकला, मित्र प्रकाशन, प्रा.लि., इलाहाबाद, 1963, पृ. 49
10. गर्ग, कमला; यशोधर चरित : सचित्र पाण्डुलिपियाँ, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1991, पृ. 34
11. वही, पृ. 77
12. शर्मा, लोकेश चन्द्र; भारत की चित्रकला का संक्षिप्त इतिहास, कृष्णा प्रकाशन मीडिया प्रा.लि., मेरठ, 1970, पृ. 58
13. अग्रवाल, आर.ए.; कला विलास : भारतीय चित्रकला का विवेचन, डी.एस.ए. बुक्स इंटरनेशनल, मेरठ, 2015, पृ. 79

डॉ. सुरेश कड़वासरा (बड़वासी)
शोध निर्देशक
श्री जेजेटी विश्वविद्यालय, चुडेला
झुंझनूँ, (राज.)

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. A
Sr. 9, 2016
ISSN : 2277-419X

सावण सुरंगो, भादवो जी.....

प्रकृति बरसात में मादकता की अनुपम धाराओं में बहती हुई मरुधरा के उपादानों को उल्लासित कर मानव जीवन को उमंग से भर देती है और तीजणियों की स्वर लहरी पूरे वातावरण को मनमोहक बना देती है। तभी तो मनचली हवायें यौवनाओं की पायलों को झनझनाती हुई संगीत की लहरी में आबद्ध कर मरुधरा के वातावरण को महका रही है।

“सावण सुरंगो, भादवो जी.....
बरसै चारू कूंट,
म्हारा मुरला,
सावण लहरयो जी।।
सावण में तो बाई सासरै जी,
बीरो ल्यावण जाय,
म्हारा मुरला,
सावण लहरयो जी।।”

श्रावण माह की झड़ी में गोरी का मन उल्लासित तरंगों के साथ आसमान में गोता लगाने लगता है। वह चांद-सितारों से गलबाहें डालकर बातें करने लगती है और कलियों-सी चटककर कमल की तरह महकने लगती है। वह सहेलियों के संग झुमती हुई संगीत के द्वारा मरुधरा को रसपान करवाती है।

“बरसो रै बरसो सावण-भादूडा रा काळा बादल,
सावण-भादूडा रा काळा बादल।।
थे रिम-झिम बरसो रै थे...।।
सूखा-सूखा खेतां म्हारो जिवड़ो कोनी लागै रै-
या झिगुंर थारी तान प्यारी लागै म्हारा सांवरियां,
हा लागै म्हारा सांवरियां
थे रिम-झिम बरसो रै थे...।।

हरिया-हरिया खेतां म्हारो मनडो घणो लागै रै-
 हां हरिया...
 या कोयलडरी री तान प्यारी लागै म्हारा सावरियां,
 थे रिम-झिम बरसो रै थे...।।”

पानी के अभाव में जूझने वाला मरुधरा बरसात की फुव्वारें से आनन्दित होकर हरी चुनड़ी ओढकर रंग-विरंगे फूलों में समाहित हो जाता है और युवतियाँ जन-जीवन की आत्मा को उल्लासित कर मरुवासियों की महिमा का गान प्रकृति के उपादानों के साथ तारतम्य बनाकर उसके आचार-विचार, रहन-सहन, खान-पान, काम-काज, व्यवहार आदि को व्यक्त करती है।

“ओ कुण बावै बाजरो ए बजरी,
 यो कुण बावै जवार मेवा-मिसरी,
 सुरंगी रुत आई म्हारे देश,
 सावण रुत आई म्हारे देश...।।”

श्रावण के सोमवार मरुवासियों के लिए लोकविश्वास की आस्था एवं आत्मिय शकून का प्रतीक है। नवयुवतियाँ अपने मन की तमन्ना को साकार करने के लिए शिवलिंग पर दूध, धतूरा, बील, आक, दूब, फल-फूल आदि सामग्रियों को चढ़ाती हुई शिव को न जाने कितनी उपमाओं से सम्बोधित करके अपनी मनोकामनाओं में गोता लगाती है।

“बना रे बागां में झुला घाल्या।
 म्हारे हिवड़े री,
 म्हारे जिवड़े री,
 म्हारे मनड़े री कोयल बोले झुला छैल कंवरसा...।
 गोरी ऐ बागां में झुला घाल्या...
 म्हारे मनड़े रो मोरियो नाचे झुला जान कंवरसा...।।”

मरुवासिनियाँ श्रावण शुक्ला की सिंजारा तीज के पूर्व संध्या पर अपनी सहेली की हथेली पर मेंहदी को उकेरती हुई भंवरो की गुन-गान के साथ घूमर नृत्य में समा बांध कर तारों की भांति शोभायमान हैं।

“तीज्यां का दो पंख पखेरु,
 तीजण आई ए सहेलडी ए...।
 आई तो जाई म्हारी मां की ए जाई,
 आज सिन्हारो बाई थारो जी।।”

शोडशियाँ अपनी सहेलियों के संग बागों में झुला डालकर मन रूपी भावों में झुलती हुई कोयल की कूक रूपी स्वर लहरी से पूरे वातावरण को मधुमय बना देती है। बेचारा खींवा पथहीन होकर जंगलों में भटक-सा जाता है।

“झूरे तो झूरे काळी बादली,
झूरे ए म्हारे बाबो-सा रे देश,
मेलो तो मेलो ब्याणजी वेन ने
आई-आई पैले सावणरी तीज...।।”

गोरी वर्षा की रिम-झिम में सराबोर होकर मन की ज्वाला से दहक कर अपने प्रियतम को आन्तरिक उच्चाट से अवगत करवाती हुई विरह की पावक को मधुमय गीतों के द्वारा पूरी प्रकृति को रसमय बना देती है और संयोगिनी अपने प्रियतम को चाकरी पर न जाने का आग्रह करती हुई अपने उदगारों को मनमोहक रूप से व्यक्त करती है।

“...रुत आई रे पपइया थारे बोलनरी रुत आई रे...।।”
“बाय चाल्या छा भंवर जी पीपळी जी,
हौ जी ढोला ! हो गई घेर-घुमेर,
बैठण री रुत चाल्या चाकरी जी।
ओजीं म्हारी सास सपूती रा पूत
मत ना सिधारो पूरब री चाकरी जी।।
परण चाल्या छा भंवर जी गोरडी जी
हौ जी ढोला! हो गई जोध जवान,
बिलसण री रुत चाल्या चाकरी जी।।”

मरुवासनियाँ श्रावण मास में मरुधरा के उपादानों को विभिन्न लोक गीतों के माध्यम से लोकमानस को उजागर कर लोकानन्द की कण-कण में रसधारा को प्रवाहित किया है।

प्रो. किरन सरना (शोध निर्देशिका)
 कु० मीनाक्षी (शोधार्थी)
 चित्रकला विभाग
 वनस्थली विद्यापीठ (राज०)

ATISHAY KALIT
 Vol. 5, Pt. A
 Sr. 9, 2016
 ISSN : 2277-419X

खजुराहो के मन्दिर : स्थापत्य एवं मूर्तिशिल्प की दृष्टि से

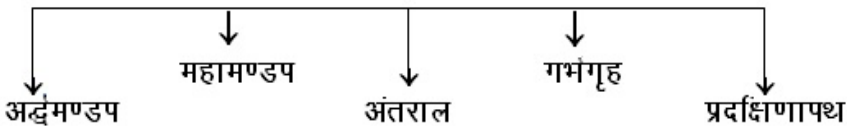
खजुराहो के मंदिर पूर्व मध्यकालीन भारतीय वास्तु तथा मूर्तिशिल्प के उत्कृष्ट उदाहरण माने जाते हैं। नागर शैली की उत्कृष्ट विशेषता इन मंदिरों में देखी जा सकती है। खजुराहो के मंदिर प्रायः ऊँची चौकी या अधिष्ठान के ऊपर बनाए गए। इनके चारों ओर किसी प्रकार का घेरा या दीवार नहीं है। इनका निर्माण पूर्ण पश्चिममुख धुरी के ऊपर हुआ। खजुराहो के मंदिरों में मंदिरों का विकसित रूप दृष्टिगोचर होता है। इन मंदिरों के निर्माण में निरंधार और संधार मंदिरों के उदाहरण देखने को मिलते हैं। यहाँ चार विशाल मंदिर संधार हैं जिनमें आंतरिक प्रदक्षिणा पथ है। इन मंदिरों की तालिका निम्नलिखित है—

संधार मंदिर

लक्ष्मण मंदिर (वैष्णव)	कंदारिया महादेव मंदिर (शैव)	विश्वनाथ मंदिर (शैव)	पार्श्वनाथ मंदिर (जैन)
---------------------------	--------------------------------	-------------------------	---------------------------

खजुराहो के मंदिरों को आंतरिक रूप में पाँच भागों में बांटा जा सकता है :
 जो निम्नलिखित हैं—

खजुराहो के मंदिरों की आंतरिक संरचना



1. अर्द्धमण्डप : प्रवेश कक्ष जिसे 'अर्द्धमण्डप' कहा जाता है।
2. महामण्डप : अर्द्धमण्डप के बाद चबूतरे वाला भाग आता है जो 'महामण्डप' कहलाता है और इसका प्रयोग धार्मिक उत्सवों पर नृत्यांगनाओं द्वारा सांस्कृतिक कार्यक्रम करने के लिए किया जाता था। यहाँ वे नृत्य आदि करती थी।

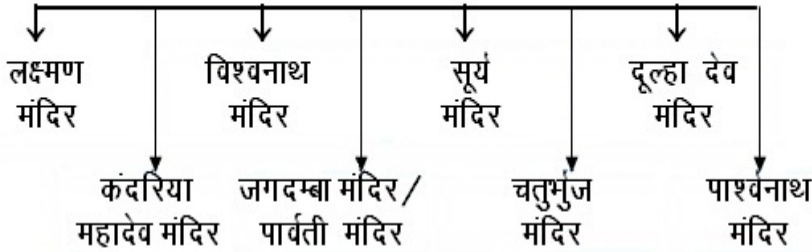
3. अंतराल : यह स्थान पुजारी लोगों को पूजन पाठ कराने में सहायता करता है। इस भाग का गर्भगृह व महामण्डप से सीधा सम्पर्क होता है।

4. गर्भगृह : गर्भगृह में मंदिर के इष्ट देव विराजमान होते हैं।

5. प्रदक्षिणापथ : यह मंदिर का पांचवा व अंतिम भाग जो मंदिर के बाह्य दीवार और गर्भगृह की बाह्य दीवार के मध्य परिक्रमा स्थल अर्थात् 'प्रदक्षिणापथ' है। निरंधार शैली की मंदिरों में यह मुख्य मंदिर के बाहर ही होता है और साधारण शैली के मंदिरों में दो प्रदक्षिणा पथ होते हैं। एक गर्भगृह के बाहर और दूसरा मुख्य मंदिर के बाहर।

खजुराहो के प्रमुख मंदिर स्थापत्य व मूर्तिशिल्प के उदाहरण निम्नलिखित हैं—

प्रमुख मंदिरों की तालिका



यह मंदिर वैष्णव धर्म से संबंधित मंदिर हैं। इसके गर्भगृह में भगवान विष्णु की प्रतिमा स्थापित है। यह मंदिर राजा यशोवर्मन ने बनवाया था, यशोवर्मन को लक्ष्मणवर्मन भी कहा जाता है। उन्हीं के नाम पर इस मंदिर को 'लक्ष्मण मंदिर' कहा जाता है। कहा जाता है कि इस मंदिर को बनवाने के लिए 16 हजार शिल्पकारों को मथुरा से बुलाया गया था।

यह मंदिर पंचायतन शैली का उदाहरण है। इस मंदिर में दो प्रदक्षिणा पथ देखे जा सकते हैं। संपूर्ण मंदिर ऊँची जगती पर बना है। मंदिर के निर्माण में लाल बलुआ पत्थर का प्रयोग हुआ जो विविध तान लिए हुए हैं। दूर से संपूर्ण मंदिर ऐसा प्रतीत होता है। मानो चंदन की लकड़ी से निर्मित है और चंदन की लकड़ी में ही अलंकरण किया गया है (चित्र सं.—1)।

मंदिर का स्थापत्य विकास मंदिर के इन सभी भागों में देखा जा सकता है जिनमें अर्द्धमण्डप, मण्डप, महामण्डप, अंतराल तथा गर्भगृह है इस मंदिर का गर्भगृह पंचरथ है। शिखर लघु शिखरों के समूहों से युक्त है। मंदिर की बाहरी दीवार पर अलंकृत स्तम्भों से युक्त वातायन निर्मित है। दीवारों अर्थात् मंदिर की बाह्य भित्ति

(जंघा) पद दो पंक्तियां हैं जिनमें देवी देवतागण, अप्सराएँ तथा मिथुन आदि विषय उत्कीर्ण हैं (चित्र सं.-2)।

मंदिर का प्रवेश द्वार एक ही पत्थर से बने तोरण से सुसज्जित है प्रवेश द्वार पर भगवान सूर्य की अद्वितीय रूप में प्रतिमा है (चित्र सं.-3)।

मंदिर की बायें से दायें ओर की प्ररिक्रमा में हमें सर्वप्रथम विहनेश्वर भगवान गणेश की प्रतिमा देखने को मिलती है। (चित्र सं.-4) देवीबंध तक हमें बेलबूटों एवं कीर्तिमुख तथा हाथियों की एक पंक्ति दिखाई देती है। उसके ऊपर छोटी-छोटी प्रतिमाओं की दो लाइनें हैं जिनमें नृत्य, संगीत, शिकार, युद्ध, मैथुन आदि के दृश्य हैं। साधारणतः यह कहा जा सकता है कि इन लाइनों में उस समय के रहन-सहन, रीति-रिवाज व परम्पराओं को जाना जा सकता है।

प्रतिमाओं की इन दो पंक्तियों से ऊपर मंदिर की जंघा पर बड़ी प्रतिमाओं की दो पंक्तियाँ बनी हैं ये प्रतिमाएँ लगभग ढाई फीट (2) ऊँची है। ऊपर की पंक्ति में विष्णु तथा नीचे की कतार में शिव की प्रतिमाएँ अपने विशेष चिन्हों जैसे विष्णु शंख, चक्र, गदा, पदम एवं शिव त्रिशूल, नाग, रुद्राक्ष की माला व कमण्डल के साथ अभय तथा वरद मुद्राओं में दिखलाए गए हैं। इन दोनों देव प्रतिमाओं के दोनों ओर संसार प्रसिद्ध सुर-सुंदरियों, देव-दासियों नाग कन्याओं इत्यादि की विभिन्न भाव, भंगिमाओं में प्रतिमाएँ हैं (चित्र सं.-5)।

लक्ष्मण मंदिर खजुराहो के सभी मंदिरों से अच्छी स्थिति में स्थित हैं। इस मंदिर का चबूतरा अब भी अपने मूल रूप में सुरक्षित है। बिना किसी क्षति के। मंदिर के बाहर आकर चबूतरे से उतर कर हमें नीचे से मंदिर की एक बाह्य परिष्कार ले सकते हैं। दाएं से बाएं ओर की परिक्रमा में हमें करीब एक फीट ऊँची प्रतिमाओं की एक पंक्ति देखने को मिलती है, जिसमें उस युग की जिस युग में यह मंदिर बना था, जन-जीवन की झांकियाँ हैं। लगभग चार या साढ़े चार फीट लम्बे बने हुए इन पत्थरों के पैनलों में दैनिक जीवन से संबंधित सभी दृश्यों को उत्कीर्ण किया गया है।

2. कंदरिया महादेव मंदिर स्थापत्य व मूर्ति शिल्प :

यह मंदिर विद्याधर के द्वारा बनवाया गया। भगवान शिव को समर्पित यह मंदिर मध्ययुगीन स्थापत्य एवं शिल्प कला का उत्कृष्टतम मंदिर है। खजुराहो के मंदिरों में सबसे अधिक विकसित (सप्तरथ शैली) मंदिर है। भगवान शिव का यह मंदिर 117 फुट ऊँचा, 117 फुट लम्बा एवं 66 फुट चौड़ा है। दूर से इस मंदिर को अवलोकन करने पर ऐसा लगता है जैसे कोई विशाल पर्वत खड़ा हो। इसका प्रवेश द्वार ऐसा प्रतीत

होता है जैसे किसी कंदरा अथवा गुफा का द्वार हो। इसलिए इस विशाल मंदिर का नाम कंदरिया पड़ा। इस मंदिर के गर्भगृह में सफेद संगमरमर का शिवलिंग स्थापित है। लोकमत के अनुसार “जो कि अमर नाथ के शिवलिंग का प्रतीक है।”

इस मंदिर में एक ही पत्थर से बना हुआ मकर तोरण प्रवेश द्वार के ऊपर शोभायमान है जिसे शुभागमन का प्रतीक मानते हैं। तोरण द्वार के ऊपर कई प्रकार की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। इनमें नाना प्रकार के वाद्ययंत्र बजाते हुए संगीतकार, देवताओं की मूर्तियाँ प्रेमी युगल, युद्ध, नृत्य एवं राग-विराग आदि की मूर्तियाँ देखने को मिलती हैं। इसके बाद महामण्डप आता है और महामण्डप की छत के ऊपर जो कारीगरी की गई है उसे कभी भुलाया नहीं जा सकता है। यहाँ पर जो नायिकाओं की मूर्तियाँ गढ़ी हैं उनकी तुलना स्वर्ग की अप्सराओं से की जाती है। पैरों के नूपुर, कमर के कटिबंध, मणि झालर एवं पट्टिका, वक्ष स्थल पर सतलड़ी, मणि माला, हार, हाथों के भुजबंध, चूड़ा, बंगरी, माथे की बिंदिया, राशि फूल, सिर के पुष्प, मुकुट आदि।

मंदिर बाह्य भित्ति अर्थात् जंघा प्रतिमाओं की तीन पंक्तियाँ देखने को मिलती है। इस मंदिर की देव प्रतिमाएँ एवं सुर-सुंदरियों की मूर्तियाँ जो कि मंदिर की बाह्य भित्ति पर उत्कीर्ण हैं अन्य मंदिरों की प्रतिमाओं से ज्यादा ऊँची एवं बड़ी है। यह प्रतिमाएँ जैसे सुरा-सुंदरियाँ, देवदासियाँ आदि विभिन्न मुद्राओं में बहुत ही सुंदर ढंग से दिखाई गई हैं। नाग कन्याओं को कोनों में हाथ जोड़कर अभिवादन करते हुए दिखाया गया है।

3. विश्वनाथ मंदिर स्थापत्य व मूर्ति शिल्प :

यह मंदिर राजा धन्वादेव वर्मन के द्वारा निर्मित किया गया था। यह मंदिर भी लक्ष्मण मंदिर के सदृश्य ही पंचायतन शैली में निर्मित किया गया था। किन्तु समय के कारण अब केवल उन मंदिर उत्तर पूर्व एवं दक्षिण पश्चिम कोनों में ही स्थित है बाकी पूर्व एवं उत्तर पश्चिम कोनों के उप मंदिर टूट चुके हैं।

इस मंदिर के मूर्तिशिल्प अन्य मंदिरों के मूर्तिशिल्प की तुलना में अधिक भाव प्रवण व अपेक्षाकृत ज्यादा समृद्ध है। इस मंदिर की बाह्य भित्ति अर्थात् जंघा को मूर्ति शिल्प की तीन पंक्तियों में विभाजित किया गया है। इन पंक्तियों में देव प्रतिमाओं के दोनों ओर नायिकाओं का विभिन्न मुद्राओं में चित्रण हुआ है। इस मंदिर में नाग कन्याओं के साथ-साथ चंवर डुलाने वाली दासियों के मूर्तिशिल्प भी उत्कीर्ण हैं। इस मंदिर में मूर्तिशिल्प में केश विन्यास की विभिन्नता एवं तरह-तरह के आभूषणों से सुसज्जित सौंदर्य की दृष्टि से समृद्ध है। इसी क्रम में मंदिर की छोटी प्रतिमाओं वाली लाइनें विशेष तौर से उस युग का चित्रण दिखाती है।

4. जगदम्बी मंदिर/पार्वती मंदिर स्थापत्य व मूर्तिशिल्प :

इस मंदिर में वर्तमान समय में गर्भगृह में स्थापित पार्वती प्रतिमा के कारण देवी जगदम्बी मंदिर कहा जाता है(चित्र सं.-6)। इसका निर्माण एक ऊँची जगती पर किया गया है। इस की आंतरिक संरचना में गर्भगृह प्रदक्षिणापथ रहित है। इस मंदिर में गर्भगृह, अंतराल, तीन ओर से वातायनयुक्त महामण्डप तथा अर्द्धमण्डप है। मंदिर के महामण्डप की छत साधारण और चौकोर आकार की है। मंदिर की बाह्य भित्ति (जंघा) पर दो पंक्तियों में मूर्तिशिल्प उत्कीर्ण है।

5. चित्रगुप्त मंदिर/सूर्य मंदिर स्थापत्य व मूर्तिशिल्प :

खजुराहो में बने मंदिरों में केवल यही एक मात्र सूर्य मंदिर है। यह मंदिर निराधार शैली में निर्मित है। अर्थात् आंतरिक भाग को हम चार भागों में विभक्त कर सकते हैं। अर्धमण्डप, महामण्डप, अंतराल एवं गर्भगृह। मंदिर के गर्भगृह के ऊपर का शिखर एवं कई स्थानों पर दीवार ईंट तथा चूने के द्वारा जोड़कर फिर से बनाई गई है। जैसा की इस (चित्र सं.-7) में देख सकते हैं।

इस मंदिर के गर्भगृह में सूर्य की प्रतिमा को सात घोड़ों से युक्त रथ पर सवार दिखाया गया है। सूर्य के दाहिनी ओर चित्रगुप्त भगवान की एक खण्डित मूर्ति है जो कि लेखनी लिए हुए हैं। उन्हीं के नाम पर इस मंदिर का नाम चित्रगुप्त पड़ा। मंदिर की बाह्य भित्ति पर तीन पंक्तियाँ बड़ी प्रतिमाओं की एक एक छोटी प्रतिमाओं की है। इन मूर्तियों में विभिन्न विषयों को उत्कीर्ण किया गया है। जैसे आंलिगनों में युगल पत्थर ढोने, हाथियों की लड़ाई, उत्सवों, शिकार एवं नृत्य आदि से संबंधित है।

6. चतुर्भुज मंदिर स्थापत्य व मूर्तिशिल्प :

यह मंदिर खजुराहो गाँव से लगभग 3-4 किमी. दूर है। यह मंदिर निरंधार शैली में बना हुआ है। इस मंदिर आंतरिक भागों के रूप में प्रवेश द्वार व गर्भगृह ही है। यह मंदिर आकृति की दृष्टि से छोटा मंदिर है। इस मंदिर की गर्भगृह में स्थापित चतुर्भुज भगवान की मूर्ति विशेष उल्लेखनीय है। जिसका वर्णन षष्टम् अध्याय में किया जा चुका है।

7. दूल्हा देव मंदिर स्थापत्य व मूर्तिशिल्प :

यह मंदिर में निरंधार शैली का उदाहरण है। इस मंदिर में भी अर्धमण्डप, महामण्डप, अंतराल, गर्भगृह बनाए गए हैं मंदिर का महामण्डप अन्य मंदिरों के महामण्डप से भिन्न है। यह एक वृत्ताकार छत के रूप दृष्टव्य की व्यवस्था नहीं है। इसके अतिरिक्त जैसे अन्य मंदिरों में गर्भगृह के द्वार पर तीन लोको का चित्रण हुआ है

वहीं इस मंदिर में लोकनृत्य का अंकन सप्त मात्रिकाओं की मूर्तियों के द्वारा किया गया है।

इस मंदिर की वाह्य भित्ति पर मूर्तिशिल्प तीन पंक्तियाँ हैं जिनमें सबसे ऊपर छोटी पंक्ति जिसमें गंधर्व का बड़ा ही सजीव चित्रण आकाश में उड़ते हुए किया गया है। तथा नीचे की दो पंक्तियों में बड़े मूर्ति शिल्प अन्य मंदिरों के समान इनमें नंदीकेश्वर शिव, अप्सराएँ व नागकन्या, शार्दूल आदि को देखा जा सकता है।

8. पार्श्वनाथ मंदिर स्थापत्य व मूर्तिशिल्प :

यह मंदिर भी संधार मंदिर है। यह पंचरथ शैली में बना है। यह मंदिर जैन समूह का सबसे उत्कृष्ट मंदिर है। पुरातत्व के सुप्रसिद्ध शोधक और प्रकाण्ड विद्वान फर्ग्युसन इसे कंदारिया महादेव मंदिर की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ कहते हैं। यह मंदिर स्थापत्य आंतरिक संरचना की दृष्टि से पांच भागों में विभाजित है। मण्डप, महामण्डप, अंतराल, प्रदक्षिणापथ व गर्भगृह इसके अतिरिक्त इस मंदिर में अन्य मंदिरों के समान प्रकाश के लिए झरोखों की बजाए छोटे-छोटे छिद्र बने हैं इन्हीं की सहायता से प्रकाश अंदर प्रवेश करता है।

इस मंदिर के गर्भगृह में 23वें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ जी की श्याम वर्ण पाषाण प्रतिमा विराजमान है। (चित्र सं.-8) मंदिर की वाह्य भित्ति पर अप्सराओं के मूर्तिशिल्प बहुत ही सुंदर अंकन है। यहाँ इन मूर्तियों में शिल्पकार ने कामनीय देह, लोच व चलक को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करने में सफलता प्राप्त की है। इस मंदिर के प्रमुख मूर्ति शिल्पों में काजल लगाती अप्सरा, दर्पण में मुख निहार कर केश विन्यास करती हुई अपने अलंकारों का अवलोकन कर रही है। तो कहीं अपने पैरों पर में हदी रचाती हुई तो कहीं प्रोषित प्रतिका प्रेम पत्र लिख रही है तो कहीं स्नेहवत्सला जननी अपने शिशु को स्तनपान करा रही है। ऐसे अनेक उदाहरण इस मंदिर में देखने को मिलते हैं।

पाद टिप्पणी :

1. स्वयं सर्वेक्षण के आधार पर ।
2. स्वयं सर्वेक्षण के आधार पर ।
3. स्वयं सर्वेक्षण के आधार पर ।
4. स्वयं सर्वेक्षण के आधार पर ।
5. स्वयं सर्वेक्षण के आधार पर ।
6. स्वयं सर्वेक्षण के आधार पर ।
7. स्वयं सर्वेक्षण के आधार पर ।
8. स्वयं सर्वेक्षण के आधार पर ।

9. स्वयं सर्वेक्षण के आधार पर ।
10. स्वयं सर्वेक्षण के आधार पर ।
11. स्वयं सर्वेक्षण के आधार पर ।
12. स्वयं सर्वेक्षण के आधार पर ।
13. स्वयं सर्वेक्षण के आधार पर ।
14. स्वयं सर्वेक्षण के आधार पर ।



(चित्र सं- 1)



(चित्र सं- 2)



(चित्र सं- 3)



(चित्र सं- 4)



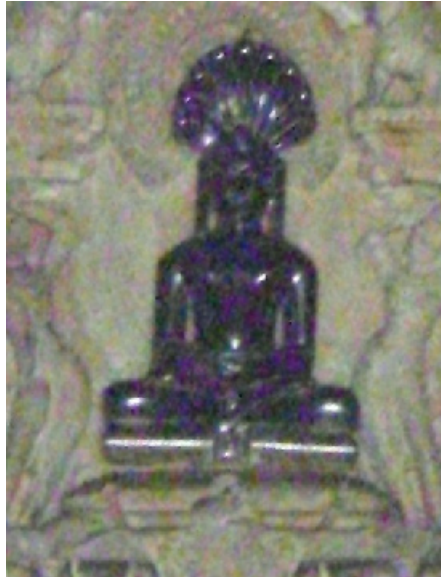
(चित्र सं- 5)



(चित्र सं- 6)



(चित्र सं- 7)



(चित्र सं- 8)

Vimal Kumar Puthiyadath
Medical Device Design Consultant
Sr. Specialist, Head of Solutions and IP for medical
electronics division of Tata Elxsi responsible

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. A
Sr. 9, 2016
ISSN : 2277-419X

METAMORPHOSIS OF HOFSTEDE MODEL FOR THE EMERGING MARKETS WITH SUPERIMPOSITION OF PASTEUR'S QUADRANT IN CONTEXT TO DESIGN OF MEDICAL DEVICE FOR EMERGING MARKETS

Abstract

As Heraclitus said, the only thing that is permanent in the world is change. Hofstede model which revolutionized the cross cultural interactions is no exception to the Heraclitean maxim. Emerging markets catalyzed by technology have eroded some of the strong pillars of this theory. Pasteur's quadrant which a label is given to a class of scientific research methods that seek both fundamental understanding while at the same time try to be beneficial to the society. This paper attempts to examine and estimate the linking of these two aspects!

Hofstede Model- Overview

Geert Hofstede's cultural dimensions theory is a framework for cross-cultural communication. He developed his original model as a result of using factor analysis to examine the results of a world-wide survey of employee values by IBM between 1967 and 1973. The theory was one of the first that could explain observed differences between cultures which is of prime importance in the present era of business sans frontiers..!. Here is an overview of the model.

Power distance index (PDI): Power distance is the extent to which the less powerful members of organizations and institutions (like the family) accept and expect that power is distributed unequally. Individuals in a society that exhibit a high degree of power distance accept hierarchies in which everyone has a place without the need for justification. Societies with low power distance seek to have equal distribution of power. Cultures that endorse low power distance expect and accept power relations that are more consultative or democratic.

Just to elaborate this point, power distance index shows very high scores for Latin and Asian countries, African areas and the Arab world. On the other hand Anglo and Germanic countries have a lower power distance (only 11 for Austria, 13 for Israel, 18 for Denmark).

Individualism (IDV) vs. collectivism: This is the degree to which individuals are integrated into groups. In individualistic societies, the stress is put on personal achievements and individual rights. People are expected to stand up for themselves and their immediate family, and to choose their own affiliations. In contrast, in collectivist societies, individuals act predominantly as members of a lifelong and cohesive group or organization. Please note that the word collectivism in this sense has no political meaning: it refers to the group, not to the state in totality. People have large extended families, which are used as a protection in exchange for unquestioning loyalty.

Uncertainty avoidance index (UAI): This is defined as the society's tolerance for uncertainty and ambiguity. It reflects the extent to which members of a society attempt to cope with anxiety by minimizing uncertainty. People in cultures with high uncertainty avoidance tend to be more emotional. They try to minimize the occurrence of unknown and unusual circumstances and to proceed with careful changes step by step planning and by implementing rules, laws and regulations. In contrast, low uncertainty avoidance cultures accept and feel comfortable in unstructured situations or changeable environments and try to have as few rules as possible. People in these cultures tend to be more pragmatic, they are more tolerant of change.

Masculinity (MAS), vs. femininity: This is the distribution of emotional roles between the genders. Masculine cultures' values are competitiveness, assertiveness, materialism, ambition and power, whereas feminine cultures place more value on relationships and quality of life. In masculine cultures, the differences between gender roles are more dramatic and less fluid than in feminine cultures where men and women have the same values emphasizing modesty and caring. As a result of the taboo on sexuality in many cultures, particularly masculine ones, and because of the obvious gender generalizations implied by Hofstede's terminology, this dimension is often renamed by users of Hofstede's work, e.g. to Quantity of Life vs. Quality of Life.

Long-term orientation (LTO), vs. short term orientation: First called “Confucian dynamism”, it describes societies’ time horizon. Long-term oriented societies attach more importance to the future. They foster pragmatic values oriented towards rewards, including persistence, saving and capacity for adaptation. In short term oriented societies, values promoted are related to the past and the present, including steadiness, respect for tradition, preservation of one’s face, reciprocation and fulfilling social obligations.

Indulgence versus restraint (IVR): The extent to which members of a society try to control their desires and impulses. Whereas indulgent societies have a tendency to allow relatively free gratification of basic and natural human desires related to enjoying life and having fun, restrained societies have a conviction that such gratification needs to be curbed and regulated by strict norms.

2. Metamorphosis of Hofstede model

The changes in the socioeconomic and cultural fronts have impacted the modern society. This is catalyzed by the wave of technology and also by the vanishing lines among nations and boundaries. Let us revisit the Hofstede model with the rejuvenated spirit of 21st Century..!

Power distance index (PDI):

Power distance is the extent to which the less powerful members of organizations and institutions (like the family) accept and expect that power is distributed unequally. Individuals in a society that exhibit a high degree of power distance accept hierarchies in which everyone has a place without the need for justification. Societies with low power distance seek to have equal distribution of power. Modern families are nuclear and this is decreasing PDI. Same is the case with many organizations in which the PDI is reducing thanks to the modern management methodologies. In addition to this globalisation has brought people together and that has also increased tolerance levels which in turn has increased acceptance among people. Let us take the case of China. China’s one-child policy that was introduced in the mid-70s, has resulted in this new generation of ‘only-children’ under. These only children are nothing less than little emperors for their parents treat them like one. Parents and grandparents of these little emperors, want them to experience

the benefits that they never had and they are pampered and get everything that they demand. These “only children” have a strong voice in the family’s buying decisions at a very young age. Children as young as 12 are often involved in decision-making related to home electronics and home decor. Parents not only want to give the child a chance to voice his opinions, but they also think that by 12 their child is mature and knowledgeable enough to be able to provide valuable inputs into their decision-making process.

This decrease in PDI in China is not an isolated case. This is very true in India also. Many of the Indian technocrats who return to India after their successful stints abroad bring the new style of management that reduce the PDI in many of the Indian organizations that foster a corporate environment reducing bureaucracy.

Individualism (IDV) vs. collectivism: This is the degree to which individuals are integrated into groups. In individualistic societies, the stress is put on personal achievements and individual rights. People are expected to stand up for themselves and their immediate family, and to choose their own affiliations. In contrast, in collectivist societies, individuals act predominantly as members of a lifelong and cohesive group or organization. Thanks to influence of social medias there is a paradigm shift in assessing the limits of possibilities. Connected world not only have enhanced the workflow but also shattered the chains on the society on freedom of expression and fight for justice. It is important to note that even with the ubiquity of internet it is still possible to maintain privacy which was not an option in the pre-internet era.

Uncertainty avoidance index (UAI): This is defined as the society’s tolerance for uncertainty and ambiguity. It reflects the extent to which members of a society attempt to cope with anxiety by minimizing uncertainty. The level of uncertainty has come down drastically because of the technological advancements. The fear of unknown is reduced as technology has enabled people to explore the unknown. Simplest example can be the GPS that can map the destination with a resolution that can be comprehended by even a child. The developments in usability engineering, Human computer interactions, telecontrolled systems are some of the examples that has removed the element of uncertainty from the minds. In addition to this there is a global trend to move towards a system that is more structured which hitherto

was unimaginable as there were no means to implement them.

Masculinity (MAS), vs. femininity: This is the distribution of emotional roles between the genders. Masculine cultures' values are competitiveness, assertiveness, materialism, ambition and power, whereas feminine cultures place more value on relationships and quality of life. In masculine cultures, the differences between gender roles are more dramatic and less fluid than in feminine cultures where men and women have the same values emphasizing modesty and caring.

The emergence of equal rights for women even in domains which are suited only for men (e.g. armed forces, pilots) have changed the face of modern society. Woman is no more an object of desire but an indispensable element in the progress of mankind.

Long-term orientation (LTO), vs. short term orientation: First called "Confucian dynamism", it describes societies' time horizon. Long-term oriented societies attach more importance to the future. The idea of mission and Vision is now strongly embedded not only in the organizations but also at the national level. There are many tools and methods to model, simulate and emulate which provide a realistic view of the future that will encourage people to live in the present and also plan for the future.

Indulgence versus restraint (IVR): The extent to which members of a society try to control their desires and impulses. Movies and literature have opened windows of surprises and opportunities for all.

Pasteur's quadrant: overview

Pasteur's quadrant is a label given to a class of scientific research methods that both seek fundamental understanding of scientific problems, and, at the same time, seek to be eventually beneficial to society. Louis Pasteur's research is thought to exemplify this type of method, which bridges the gap between "basic" and "applied" research. The term was introduced by Donald Stokes in his book, *Pasteur's Quadrant*.

The result is three distinct classes of research:

- * Pure basic research (exemplified by the work of Niels Bohr, early 20th century atomic physicist).
- * Pure applied research (exemplified by the work of Thomas Edison, inventor).

* Use-inspired basic research (described here as “Pasteur’s Quadrant”).

Pasteur’s quadrant is useful in distinguishing various perspectives within science, engineering and technology. University science programs are concerned with knowledge-building, whereas engineering programs at the same university will apply existing and emerging knowledge to address specific technical problems. Governmental agencies employ the knowledge from both to solve societal problems. Thus, the U.S. Army Corps of Engineers expects its engineers to apply general scientific principles to design and upgrade flood control systems. This entails selecting the best levee designs for the hydrologic conditions. However, the engineer would also be interested in more basic science to enhance designs in terms of water retention and soil strength. The university scientist is much like Bohr, with the major motivation being new knowledge. The governmental engineer is behaving like Edison, with the greatest interest in utility, and considerably less interest in knowledge for knowledge’s sake. NASA and Israel Army has created many products that are of great help to common man.

Thus, modern science and technology employ what might be considered a systems engineering approach, where the Pasteur cell consists of numerous

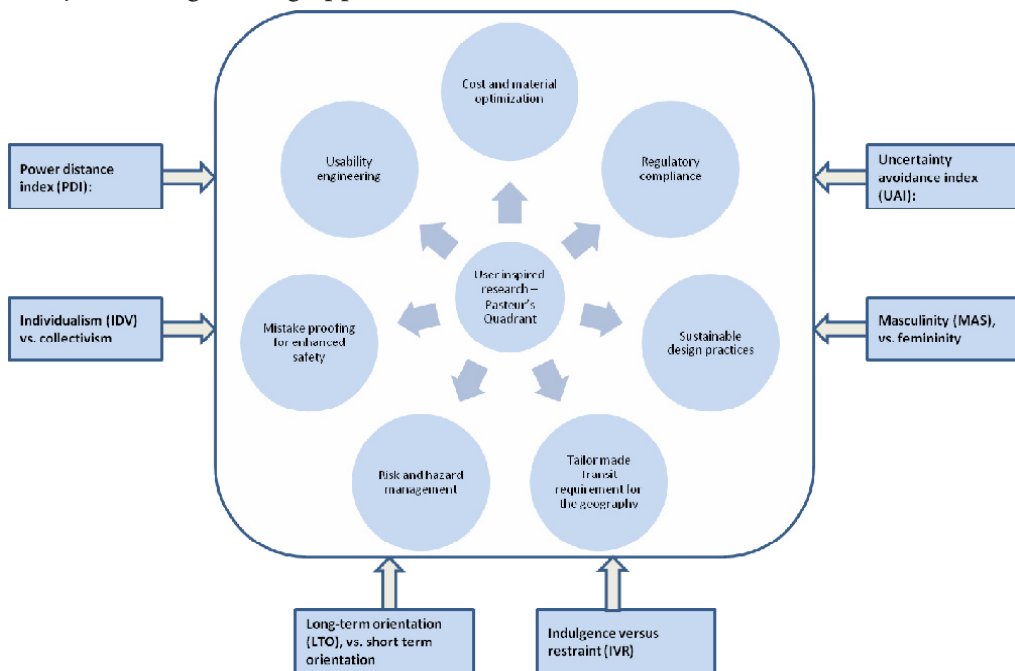


Figure 1 Superimposing Hofstede model on Pasteur’s quadrant

modifications to the quadrant model to more precisely reflect how research and development interact continue to be suggested.

Superimposing Hofstede model on Pasteur's quadrant for better medical devices

By superimposing the Hofstede model on Pasteur's quadrant which is formed by careful formulation of the societal need it is possible to create products which can really enhance quality of life. This can be done by:

1. Analyzing the disease pattern
2. Demographical ergonomics
3. Specific societal needs

Conclusion

Hofstede model which revolutionized the cross cultural interactions has to be fine tuned to incorporate the changes in modern world that is catalyzed by technology. It is important to note that though the fundamental model is still valid it is important to take into consideration the new wave of emerging markets that is causing a paradigm shift in this model. By superimposing the Hofstede model on Pasteur's quadrant which is formed by careful formulation of the societal need it is possible to create products which can really enhance quality of life

References:

1. Geert Hofstede, *Cultures and Organizations: Software of the Mind*. 2nd Edition, McGraw-Hill USA, 2005
2. Apala Lahiri Chavan, Girish V. Prabhu, *Innovative Solutions*: CRC Press
3. *Dreaming with BRICs: The Path to 2050*. Goldman Sachs. Global Economics Paper No. 99, October 2003.
4. *Insights into Asia: 19 Cities, 7 Countries, 2 Years—What People Really Want from Technology*. *Technology @Intel Magazine*, 2004.
5. Kao, J. (October 2007). In *Innovation Nation: How America is Losing Its Innovation Edge, Why It Matters, and What We Can Do to Get It Back*.
6. Khanna, T. (2008). *Billions of Entrepreneurs: How China and India Are Reshaping Their Futures—and Yours*.
7. Plant, S. *On the Mobile—the Effects of Mobile Telephones on Social and Individual Life*.

Sharha Mirza
Assistant Professor
Amity University, Rajasthan

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. A
Sr. 9, 2016
ISSN : 2277-419X

MOVEMENT BEYOND SYMBOLIC FORMS: COMMUNICATING CHARACTERISTICS THROUGH DANCE

ABSTRACT

Movement beyond Symbolic Form: Communicating characteristics through Dance records the journey of investigating creative process in dance. This was a search for strategies to empower creatively, enabling to move beyond the limitations of a prescribed form or style of dance and communicate ideas that were relevant to artist. But on a deeper level, it was an exploration of dancer capacity to self-define through movement. The aim of this creative practice is to express internal awareness through movement, thereby enabling the mover to dance from an internal reference point.

Recent studies of symbols in ritual share two features. First, they isolate symbols from the ritual process; second, they interpret symbols as units containing meaning. In this paper symbols cannot be understood without a prior study of the nature of the communication medium of ritual in which they are embedded, in particular dancing.

INTRODUCTION

Dance is usually seen as a medium through which information, messages and ideas are communicated by the dancer body to onlookers. The dancer engages in movement patterns which are often symbolic and sometimes reflect some true life situations. According to Dancer dance is used to communicate; put across a message; express a thought". This introduces us to the human factor of dance. It sees dance as "human behavior".

Such behavior mostly is reflective of the cultural norms of the dancer. Dancer explains further that "dance is cultural behavior" of a people, it communicates their values, attitudes, and beliefs. Such cultural behavior

of dance highlights different world views of the performer which declares as religious, ritual or ceremonial; social organization; political organization; economic or occupational; history or mythology; educational; recreational and entertainment. All these factors inhabit the body of the dancer; they determine the manner of his or her movement. Any traditional Indian dancer may exhibit some or all of these mannerism; these mannerism are always communicated as the dance is performed.

DANCE COMMUNICATING CHARACTERISTICS: MESSAGES SENT AND RECEIVED THROUGH DANCE

Social dance remains unexplored involving nonverbal messages sent and received while dancing. The majority of research done regarding dance has been studied in the contexts of dance classes, self-esteem of children, cultural. Previously, little to no research has been done in the context of dance in a social setting. The research I will be conducting involves examining the nonverbal communication of dance among individuals in a social setting.

The purpose of this research was to gain an understanding of message-related behavior, to explain how dance is a communicative phenomenon, and how dance is used to send and receive messages through nonverbal behavior. Messages may be intentional or unintentional in a variety of social contexts. Dance is a unique social interaction that sends both intentional and unintentional messages. Dance has been a part of culture for many years. Culturally, dance is important because we use it as a way to socialize, flirt, and to attract others. Dancing instigates affective transformations, changing mental structures and spatial meanings. In other words, dancing may change moods, serve as a force of attraction, and influence perception, all through physical movements and nonverbal communication through symbols. Yet the study of dance as a communicative phenomenon remains unexplored.²

MOVEMENT & ENERGY IN DANCE

The components of Movement to Meaning were energy work, meditation and investigation of meaning. For purposes of clarity, in this research project I used the term 'take the energy' or 'taking the energy' to refer to the process of energy sharing derived from Dance technique. The term 'energy work' to refer to the combined processes of taking the energy and breathing exercises

derived from Dancer meditation practices. I also referred to movement being 'authentic', which in this study Dancer used to refer to movement that was a direct expression of emotional or energetic impulses—movement that happened as a reaction to a specific emotion or thought, that was not pre-calculated or designed, and which emerged in the setting we established as safe and free of judgment.

The method began with forming a circle, taking the energy of the natural environment and exchanging energy with the other dancers in the circle. Walking meditation and breathing exercises followed to connect the dancers to each other and to further connect the dancers to the soil or the ground supporting our feet. I incorporated imagery into the walking meditations to aid this connection and establish calm in the minds and bodies of the dancers. For example, I suggested that energy was traveling up the body through the feet and out of the crown of the head during each inhale, and that it poured down through the head and out of the body through the feet during each exhale.

Breath flow is linked to every movement and I hoped that bringing this practice into our work would aid our process in co-creating the dance. Through breathing, dancers would hopefully release energy into the movement and into the environment, and also receive energy from the ground, the environment and each other. Any motivational speaker and spiritual guide whose work has helped shaped the meditative practices, teaches that the breath is intimately associated with the life force (referred to as prana in yoga), the vital energy that is the primary creative power of the cosmos. Dancers was looking for an energy exchange facilitated through use of the breath. After the energy work, we warmed up and began the meditation and the investigation of meaning exercises. Guided meditation exercises were designed to help dancers alternate placing their focused attention on a specific object, idea or movement and then releasing that attention completely. This method of focused and open awareness was designed to free the mind and body to be sensitive to the creative process, and could also help dancers feel more receptive to the energy, sensations and intention they might feel while working. This exercise was also used to help facilitate a connection between the dancers and the concepts of displacement.

All of the energy work was done in complete silence. Working within this framework of mental calm and open awareness, the dancers began an individual search for meaning within a selected dance vocabulary. Dancers were encouraged to use choreography tools, such as deconstruction, to isolate the basic movements that comprised the movement phrases. While executing the individual movements, I asked the dancers to notice what they felt in their bodies—perhaps some intention implied by a particular gesture or action—and explore through movement whatever emotions or thoughts came to mind. After focusing and releasing their attention on a concept, they may have felt some intention implied by the movements in relationship to the idea. The purpose of this exploration was not only for dancers to find meaning and intention within the dance vocabulary, but to also use the vocabulary as a starting point to create movements that were personally relevant to the dancers.

Dancers could periodically return to walking meditations and breathing exercises throughout the process of inquiry in order to maintain a connection with their breathing, the energy of the environment and the concepts being explored. Imagery was introduced into the process to guide their search for and evolution of the creative process. Equally important in this development was the element of play. Dancers were free to play with any aspect of the movements (music, rhythm, tempo, repetition, etc.) to see how the manipulation of these elements may impact any intention that could be implied by a movement. I kept a detailed journal and remained in communication with dancers throughout the process.³

REVIEW

Dancing is a form of nonverbal communication. Nonverbal communication plays an important role in our interaction with others. Research suggests that approximately 60-65% of social meaning is derived from nonverbal behaviors (DeVito, Guerrero & Hecht, 1999). Various codes are used when researching nonverbal communication. The codes that will be explored in this study will be proxemics, haptics, and kinesics. People communicate various messages in the act of dance, communicating with their bodies every time they dance. But what are they saying and how is it being received by dance partners? The meanings associated with messages sent by

people who are dancing in a social setting are evident through the codes of space, touch, facial expressions, and eye contact. This leads us into haptics, which is a code that refers to touching and physical contact.

These messages can communicate stimulation, hostility, enjoyment, etc. A wide array of research has indicated that close proximity and touch carry such varied meanings as affiliation, warmth, involvement, rapport, and dominance (Burgoon, 1991). Different forms of touch produce different interpretations and reactions (Burgoon, 1991). Studies have shown that touch behavior is used less frequently by individuals who are anxious and lacking in self-esteem (Guerrero & Andersen, 1991). Revealing dance moves can show confidence or lack of it. Movement as a creative expression plays an important part in life, building self-image, self-awareness, and self-direction (Shue & Beck, 2001). Understanding the messages of dance is an excellent contribution to the discipline of communication. Researching casual dance in the codes of proxemics, haptics, and kinesics will reveal new messages about nonverbal communication.³

There is also another nonverbal code that is prominent with dance. This code is kinesics, which includes facial movements and eye contact/gaze. These codes can also be called immediacy cues. These cues signal psychological and/or physical closeness, indicate communication availability, and increase sensory stimulation (Andersen, 1985). Facial movements describe to the other individual if there is flirting going on or lack of interest. Eye contact/gaze happens frequently in the act of dance.

Nonverbal involvement reflects an individual's level of activity and interest in social interaction (Cegala, 1981). When studying nonverbal codes, it is appropriate to study the codes and behavior according to context. People use nonverbal behaviors to tell each other how they feel. Many different positive relational messages are communicated nonverbally to help define relationships (DeVito, et al., 1999). These nonverbal messages include behaviors such as smiles, close distances, touch, and gaze. When dancing, sometimes personal space can be invaded. Social distances are usually from 4 to 12 feet (Hamilton & Parker, 2001). Social distance is what is used in social settings, but on the dance floor, this all changes. People that have just met could be within the intimate distance, from touching to 18 inches. The closer it gets, the

more seductive it gets.⁵

“Rhythm and dance should be taken seriously as a form of communication and symbols, a performance of particular meanings, sensibilities, and social relations” (Rogers, 1998, p.23). We know that students go out to the dance to have a good time, what we do not know is what messages are being sent and received nonverbally between dance partners. As reviewed, nonverbal messages are often dictated by space, touch, and kinesics. Social dance remains unexplored, but it has been studied in the contexts of dance classes, self-esteem of children, and sexuality (Brabazon, 1998; Oseroff-Varnell, 1998). Understanding the message of dance is an excellent contribution to the discipline of communication. Researching casual social dance will reveal further messages about nonverbal communication.

DISCUSSION AND CONCLUSION

Discussion: The most significant outcome of working in this manner is that I realized very early in the process that journey of dancers were not about studying a dance form. I thought re-contextualization was about translating one form of dance into another; a dance form is an outward expression of an inner process of understanding, regardless of which category of dance it may resemble. Dancers learned that creating a new context within which to explore any dance forms to involves a deeper level of investigation, by first contemplating the meaning and symbolism of the dance and then allowing the inner awareness to communicate through movement.

Dance is about self-expression and communication of intention. This research project has demonstrated that in order to re-contextualize a dance (or any dance practice), the resulting physical aspects of the new dance should reflect the intention of the mover. This may result in movement that does not resemble the original dance that served as a basis for evolution. In fact, it is not about the movement at all. In choreographed dances, there are customary patterns of arranging phrases and typical staging formations that are often seen in dance choreography. Choreographed works often follow the low to middle to high tempo sequencing of both movement choices and flow of energy. Initially, Dancers intentionally arranged a specific section of the choreography from this standpoint, but they later realized the need to

allow these rules of structure to fall away.

This revealed possibilities for a much more creative interpretation of the style of choreography. It was dancers inner self that longed to express itself and did so without regard to dance form or even art form. Once they found ways of accessing the inner self, it poured through me into the work. My process of engaging the dancers in a holistic manner was ultimately about helping them open up to allow what they experienced inside to become manifest outside. All our challenges always came back to honoring the self. The process continued to bring me back to an internal reference point while creating the work, and this state of awareness was crucial during performance. By far, most of our time leading up to performance was spent connecting the mental and physical processes of moving. Because we did so much energy work, whenever we did not honor a very focused, unhurried energy exchange, the dance did not seem to communicate a clear intention.⁶ What I thought was a process of adapting a dance form became an exploration of how to connect mind and body. We constantly searched and applied methods to help dancers find and maintain a connection between their mental and physical processes. This aspect of community was more valuable than the completion or fulfillment of a creative journey.

Dance is its symbolism, communication, and the way the dance and music became expressions of our community's (dancers and musicians) beliefs regarding our displacement and that of our ancestors. Dance is one of the means through which individuals impart cultural wisdom and uphold beliefs and knowledge shared by community. This was at the heart of my research—how I could use movement and music to communicate ideas, to express intent. Late into my process, somatic research revealed that one of our investigation of meaning exercises is similar to the Authentic Movement somatic exercise commonly applied to dance. Authentic Movement is an improvisational structure made up of pairs or groups of people.

In other words, the act of getting into character is essentially inviting the energy of the character to enter one's body, using such body as a vessel through which it can perform. With regard to both Movement to Meaning and Authentic Movement sessions, I have learned that any time I work with my eyes closed for an extended period of time, my inner self, or my spirit,

emerges into being. Whether I'm engaging in a deliberate spiritual practice or not, the very act of removing my focus from the outside world invites my spirit to come forth and act uninhibited.

Conclusion

My journey was about a creative practice of dancers that enables the mover to dance from an internal reference point. The connection of mind, body and spirit to the external aspect of moving is the most fascinating outcome of this research project, and it has shaped my future creative practices. As I continue to investigate meaning beyond form in dance, it is vital that I allow adequate time for an unhurried, deliberate process to unfold. Dance performances of *Ten For Every Thousand* were a snapshot in our collective artistic evolution, and I felt that they were just at the beginning of truly embodying the essence of the work. In the future, it would be ideal to engage in the Movement to Meaning methodology a second time after the initial draft of any resulting choreography is created. The second round of investigation might focus on the newly choreographed work as a basis for further development, in order to further deepen the cast's somatic connection to the physical dance.

One of my goals in the development of Movement to Meaning is to offer these strategies to other emerging artists who seek to find meaning in vernacular dance languages outside of their socio cultural settings. In fact, it is important for these emerging artists to initially develop a broad awareness of the tools created by other artists with similar questions. The ability to identify with a community of artists on a collective journey is a significant part of the process, and is a much-needed validation of one's own path to empowerment. With regard to Movement to Meaning, the presence of community is a central aspect of the energy sharing practices. Regularly entering the individual and collective field of subconscious through meditation will prompt latent emotions to emerge into creative interpretation, and participants need to feel the support of individuals with shared understanding. Depending on the work, the community that develops may include artists of various disciplines.

However, it is necessary for all artists to engage in the entire process, adapting Movement to Meaning or other somatic methods so that each

person can find their individual connection to the context, and create art that communicates their understanding. In addition, it would be helpful to collaborate with artists that have prior knowledge of the aesthetic and structural elements of the source material for re-contextualization. For instance, if the source material is a dance that requires live accompaniment, then musicians should ideally have prior training and practice in the musical accompaniment to the dance—their process might involve a re-contextualization of this music. They would also need adequate preparation on how to relate their playing to the movement of the dancers.

The strategies offered in *Movement to Meaning* are applicable to any dance form or sequence of movement material. I plan to continue formulating this holistic creative practice for others to use, clearly articulating its design and application so that it can be easily followed.

The basic steps of the process are listed below:

Basic Components of *Movement to Meaning*:

1. Energy Work

A. Energy Sharing

B. Breathing Exercises

2. Meditation

3. Investigation of Meaning—It is important in this step to explore layers of meaning, symbolism, structure and aesthetics. Participants should consider first the function of the dance and its historical relevancy in its original setting. Then a variety of strategies based on this methodology or others may be utilized to analyze the structural and aesthetic components of the dance. Ultimately, this step may aid the participant to find their personal connection to the dance, and embody their understanding.

I look forward to the ways in which this research will bring a deeper level of understanding of my creative work. I hope that by continuing to develop *Movement to Meaning*, I can help other emerging artists to explore their vernacular movement forms in meaningful ways which supersede limitations, self-imposed or otherwise.

References :

1. Lowell, Daphne. "Authentic Movement: An Introduction." *Moving the Body, Moving the Self, Being Moved: A Collection of Essays*. Ed. Patrizia Pallaro. London: Jessica Kingsley Publishers, 2007. 50-55. Print.
2. Aschenbrenner, Joyce. *Katherine Dunham: Dancing a life*. Urbana: University of Illinois Press, 2002. Print.
3. Chopra, M.D., Deepak and David Simon, M.D. *The Seven Spiritual Laws of Yoga: A Practical Guide to Healing Body, Mind, and Spirit*. New Jersey: John Wiley & Sons, Inc., 2004. Print.
4. Dickmeyer, L. (2004). *Personal Communication*.
5. Oseroff-Varnell, D. (1998). *Communication and the socialization of dance students: An analysis of the hidden curriculum in a residential arts school*. *Communication Education*, 47, 101-119.
6. Shue, L., & Beck, C. (2001). *Stepping out of bounds: Performing feminist pedagogy within a dance education community*. *Communication Education*, 50, 125-143.
7. Sunkett, Mark. *Mandiani Drum and Dance: Djimbe Performance and Black Aesthetics from Africa to the New World*. *Performance in World Music Series*. Vol. 9. Tempe: White Cliffs Media, 1995. Print.
8. *Urban Bush Women: Create Dance. Create Community*. Urban Bush Women. Web.

Indrajeet Bhattacharya
Research Scholar
Museology & Conservation
University of Rajasthan
Jaipur

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. A
Sr. 9, 2016
ISSN : 2277-419X

GOVERNMENT MUSEUM MT. ABU : COLLECTION & PROPOSALS

Coordinates : 24.5925°N 72.7083°E

Location:

Country: India
State: Rajasthan
District: Sirohi
Elevation: 1220 m (4,000 ft)
Nearest City: Abu Road



Figure 1

Introduction: The government museum of Mt. Abu (Figure 1) was established by the Rajasthan government. The foundation stone of this museum was laid on October 18th, 1962 by Dr. Sampurnanand, the then governor of Rajasthan. The building got completed in the year 1965 and was then open to the public. This museum is located inside Rajbhawan campus at Rajbhawan road opposite main post office.



Figure 2

The artistic built of the museum is very impressive and attracts the attention of the peoples. Ticket charges are very reasonable. The museum is divided into four galleries.

Gallery 1:

On entering the museum, towards the left hand side is a diorama depicting the life style of Garasiya tribe. Just in front of the diorama and in the pathway is a big clay container which is used for storing grains. It has beautiful "Mandana" (Rajasthani art work) on it. Along the wall on both sides are wooden showcases which contain variety of objects related to Garasiya tribe. These are:

1. Figure of God & Goddesses like Durga and Bhairav.
2. Mamaji ka Ghoda (Horse): These are clay models of horses. According to the tribal believe it protects from the soul of a person who have untimely death.
3. Weapons like bow & arrow, swords, hand axe, dagger and "Tod daar" rifles (Fig. 3).
4. Dresses of Tribal ladies (Jhoolki and Ghagra) (Fig. 4).
5. Ornaments which are worn by the tribal ladies like Horki, Boria, Baarli, Hathpaun, Domani Nag, Doma Veetee, Moriya, Kaangsi, Jhumki, Konikoiyo, Jhela, Guthma Todi and Karla (Fig 5 & 6).
6. Musical instruments like Drum (Nagada), Flute (Baansuri) and "Pungi" etc.
7. Model of tribal ladies grinding wheat and cleaning wheat.



Figure 3



Figure 4



Figure 5

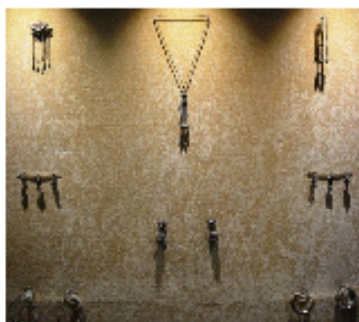


Figure 6

Gallery 2:

The second gallery contains a rich collection of art items like paintings, utensils, fine work on wood, clay idols etc. These objects are:

1. Old school paintings showing period & culture of Mughal Emperors, spiritual image of God & Goddesses, Raag - Ragini paintings.
2. Golden pottery from Bikaner (Fig. 7).
3. Brass shield and plate from Jaipur (Fig. 8).
4. Gun of Sirohi State (Fig. 9).
5. Copper plate scripts (Fig. 10).
6. Seal of Sirohi State (Fig. 11).
7. Brass plants (Fig. 12).
8. Wooden carving work (Fig. 13).



Figure 7



Figure 8



Figure 9



Figure 10



Figure 11



Figure 12



Figure 13

Gallery 3:

The third gallery is also called Sculpture gallery. This gallery contains sculptures from various parts of this district such as Chandrawati, Devangana, Delwara, Achalgarh and Varman etc. Thus we see that the entire district has an important place in Indian history. The sculptures of this gallery are beautiful portray of God-Goddesses like Shiv, Brahma, Vishnu, Ganesh, Agni, Bhairav, Durga Dashawtar etc. All the sculptures are neatly installed on pedestal. The sculptures are dated 8th to 14th century. Some of the notable sculptures worth mentioning are:

1. Chanwar vahini Shiv: 11th - 12th century; found at Chandrwati (Fig. 14).
2. Mahishasurmardini: 11th - 12th century; found at Chandrwati (Fig. 15).
3. Four Handed Agni: 11th - 12th century; found at Chandrwati (Fig. 17).
4. Vishnu: 10th century; found at Delwara (Fig. 18).
5. Bhairav: 11th - 12th century; found at Chandrwati (Fig. 19).
6. Parshwanath: 11th - 12th century; found at Chandrwati (Fig. 20).

7. Jain Teerthankar: 10th century; found at Delwara (Fig. 21).
8. Ganesh: 11th - 12th century; found at Chandrwati (Fig. 16).



Figure 14



Figure 15

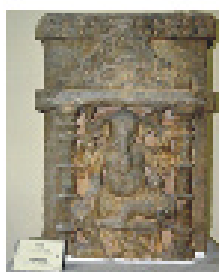


Figure 16



Figure 17

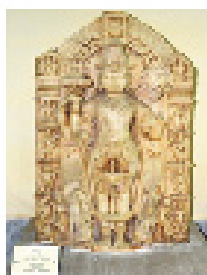


Figure 18

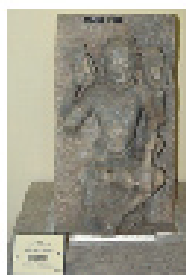


Figure 19

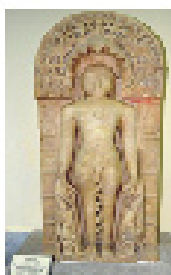


Figure 20

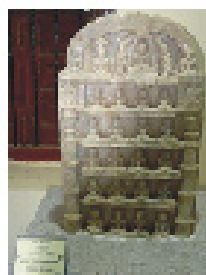


Figure 21

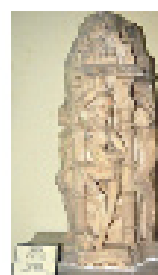


Figure 22

Gallery 4:

The fourth gallery has a good collection of inscriptions on stone slabs which very much like the sculptures are being collected from various places in Sirohi district. As observed these stone slab inscriptions are of two types:

a. Inscriptions covering the entire surface (Fig. 23 - 25).

b. Inscriptions engraved on the lower part of the stone slab. The upper part having a sculpture of a local warrior riding a horse and going to a battle (Fig. 26 - 28).

There is a popular folklore about the warriors in Sirohi as narrated by most of the old peoples which says that the Sirohi Rajput fighters were so fiercely brave that they only believed in "Death-or-Glory". The above folklore also states that even after getting beheaded, their torso continued to fight for some time and due this reason district was named as "???" (Head) + "?????"



Figure 23



Figure 24



Figure 25



Figure 26



Figure 27



Figure 28

Findings and Proposal:

The Govt. Museum, Mt. Abu is a small museum with limited collection. The general staff is good and cooperative. The premise is adequate to park vehicles. The exterior and interior cleanliness is impressive. There is proper staff for ticketing system. The collections are very well displayed with good labeling. The museum has a good diorama displaying the tribal lifestyle. Showcases are properly built and have proper lighting. There are ventilators to provide controlled sunlight and ventilation. However there are some factors which go down as field of improvement and need immediate attention. These are:

- a. The Copper plates bearing inscriptions are showing patina at most of the places. They should be treated by an able conservator.
- b. The Museum is lacking a guide who can guide the visitors, tell them about the objects and attend their queries about the collection.
- c. The Museum brochures are awfully bad. Both, the Hindi as well as

English version differ in their contents. The language of English brochure is pathetic - wrong grammar, spelling mistakes and wrong composition of sentences. Certain names have been printed in small letters. Improper use of commas could also be seen. At places there are no full stops.

- d. The English brochure also mentions about an inscription mentioning a warrior who had made physical contact with a lady as a punishment to her ?This is absurd and raises many questions such as:
1. Is this the correct translation/interpretation of the inscription?
 2. There are many inscriptions in the museum whose interpretation could have been mentioned in the broacher, then why only this has been mentioned?
 3. Is it a mode to attract the foreign tourists?
 4. Why this is not mentioned in the Hindi broacher?

Under any conditions, the decorum of the museum and the Indian culture should not be compromised. There are many fine and aesthetic aspects of Indian history which could be projected to draw the visitor's attention. Cheap publicity should be discouraged. I strongly propose to withdraw both the broachers and reprint them after proper revision being done by a responsible person. The broachers should be written by peoples who are good in literature.

Reference:

1. https://en.wikipedia.org/wiki/Mount_Abu
2. Gallery 4 description, English Broacher – Govt. Museum, Mt. Abu

Dr. Rita Pratap
Retd. Associate Professor,
Deptt. Of Drawing & Painting
University of Rajasthan, Jaipur

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. A
Sr. 9, 2016
ISSN : 2277-419X

ROME : THE VATICAN CITY



The Vatican City covers the Vatican Hill lying between Monte Mario and the Janiculum. In the 1st century B.C. it was the site of Caligula's circus —where Nero had hundreds of Christians martyred some years later. The church rises on the spot where one of Nero's victims, St. Peter, was buried. The Vatican, an independent state as from the 8th century, was of primary importance throughout the Middle Ages. The Papal State expanded to such an extent that, up to the unification of Italy, when it was wiped off the Italian political scene, it covered practically all of Central Italy. It only regained an independent political status in 1929, as a state with less than a half a square kilometer of territory, under the terms of the Lateran Pact agreement signed with the Italian government, comprising the Basilica of St. Peter's, the great Square and the Vatican complex.

VATICAN MUSEUMS

The incredible Vatican collections occupy a complex of buildings comprising over 1400 rooms and 20 courtyards. Museo Pio Clementino, containing the highlights of the Vatican's Greek and Roman collection, includes: the celebrated Belvedere Torso, perhaps representing Hercules, a late 1st century B.C. work by Apollonius of Nestor which was unearthed in the 15th century and was much admired by Michelangelo; Meleagrus, a Roman copy of a 4th century B.C. sculpture by Scopas; Apollo killing a lizard; Satyr at rest, and Venus of Cnidus, all Roman copies of Praxiteles, 4th century B.C. originals, 'Sleeping Ariadne' a refined 2nd century B.C. Hellenistic work; the Wounded Amazon, Roman copy of a Phidias original (5th century B.C.); the Laocoon, a celebrated marble group dating from the late Hellenistic period which came to light in the Domus Aurea (1st century B.C.); the extraordinary Belvedere Apollo, a Roman copy of a 4th century original by Leocares, and Athlete grooming himself, a Roman copy of a 4th century B.C. Lysippus.

The Chiaramonti Museum: two great masterpieces, the Prima Porta Augustus, a late 1st century B.C. Roman work, and the Spear-Holder, a Roman copy of a 5th century B.C. Polycleetus.

In the Vatican Picture Gallery: the collection includes: Giotto's Stefaneschi Altarpiece, commissioned in 1300 for the main altar of the old basilica of St. Peter's, a painting by Fra Angelico (scenes from the life of St. Nicholas, predella), Melozzo da Forlì's Sixtus IV and Platina, detached fresco, and the celebrated Music-Making Angels; paintings by Raphael: the Virgin of Foligno, 1513, commissioned as an exvoto offering by a prelate in the entourage of Julius II, the 'Transfiguration', Raphael's last work and by some judged his finest, dated 1520, and the Coronation of the Virgin with its predella which, instead, is the first work the master, aged twenty, painted on his own (1503). Leonardo's un-finished St. Jerome that is nevertheless a remarkably effective painting; Giovanni Bellini's Pieta (c. 1474), which is the upper section of

the Pesaro Altar-piece. Works by Veronese, Titian (Virgin and Child with saints), Paris Bordone (St. George and the Dragon), Annibale and Lodovico Carracci, Federico Barocci, Guercino, Domenichino (Communion of St. Jerome, dated 1614), Guido Reni (Crucifixion of St. Peter), Caravaggio, the moving Deposition of 1604, Van Dyck, Pietro da Cortona, Rubens, Poussin; portraits by Titian (Doge Niccolo Marcello) , Thomas Lawrence (George IV of England), Carlo Maratta (Clemens IX), and others.

RAPHAEL'S STANZE

The apartments known as Stanze were begun under Nicholas V in the 15th century. In 1508, Pope Julius decided it was time to complete the decoration of the rooms, which had since been suspended, and called in famous artists such as Signorelli and Lorenzo Lotto. When work was already in progress, the Pope heard about a talented young painter, Raffaello Sanzio, from Bramante, like Raphael, a native of Urbino. Raphael was summoned to Rome and Julius was so impressed with the youth's trial piece, he fired everyone else and awarded him the commission. The Stanza dell'Incendio di Borgo shows Pope Leo IV miraculously putting out a fire in the Borgo district. However, the most famous frescoes, the Disputation of the Holy Sacrament the School of Athens and Parnassus are in the Room of the Signature. Whereas the Disputation represents the glorification of Catholicism, the School of Athens, which shows the greatest philosophers of all times portrayed around Plato and Aristotle, represents the triumph of philosophy. Parnassus represents the world of art. Around Apollo and the Muses are Dante, Virgil, Homer, and other great poets.

SISTINE CHAPEL

The conclave of cardinals meets to elect the new pope beneath Michelangelo's stirring frescoes. The earliest frescoes, those along the walls, date from 1481. They recount the Life of Moses and Christ in twelve panels painted by some of the major figures of 15th century painting: Perugino, Pinturicchio, Botticelli, Cosimo Rosselli, and Ghirlandaio. Michelangelo, commissioned by

Julius II to decorate the ceiling, carried out the job — without any help — in only four years (1508-1512). The iconographic scheme is vast, starting with the Creation and continuing up to the Redemption of Mankind. Dozens of figures weave in and out of the architectural elements (both painted and real). These include: seven Prophets and five Sibyls (spandrels), twenty-two forefathers of Christ (lunettes above the windows), saviours of the Hebrew People (Esther, Judith, David), as well as several nude figures on the arcades bordering the Old Testament scenes whose meaning is, as yet, unknown. The subjects of the scenes in the nine rectangles in the center of the ceiling are: Separation of Light from Darkness, Creation of the Universe, Separation of Land from the Sea and Creation of the Animals, Creation of Adam, Creation of Eve, Fall of Man and Expulsion from Paradise, Noah's Sacrifice, the Flood and the Drunkenness of Noah. On the end wall is Michelangelo's dramatic Last Judgment painted on a commission from Paul III, more than twenty years later (1536-1541). The complex composition involving 391 figures is wholly dominated by the stern figure of Christ the Judge, above which are angels and martyrs bearing symbols of their martyrdom and below which are angels with trumpets, with the elect going to heaven on the left and the damned being hauled off to hell on the right.

* As perceived during Author's visit to Rome and the Vatican.

Prof. Kiran Sarna (Research Guide)
Pradnya S.Bhatkar (Research Scholar)
 Visual Art Dept.
 Banasthali University, Rajasthan

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. A
Sr. 9, 2016
ISSN : 2277-419X

SIGNS, SYMOBLS AND INTERPRETATION

What do you do when you want to tell somebody something? Simple you just talk to them if they are at a distance, you might try to shout as loud as you can or use sign language. If the person is in a different town or country, you can call, write a letter or send an email. All these are ways of communicating.

When we speak to someone in front of us or over the phone or write to them, we are personally sending out our message. This way of communicating is called personal communication when many people need to be given some information; newspapers, radio or televisions are used. This type of communication is called mass communication.

The present connects the past with the future - knowing about the past provides a basis from which we can plan. Signs, symbols have been part of the collective subconscious of the human race since earliest times. 1



Fig.1. This Painting On The Wall Of A Cave Shows Hunters Killing A Bison. Through Such Paintings, Hunters Believed, They Could Get Magical Aid In The Search For Game.

Early man used the rocky walls of his cave to draw geometric patterns and crude pictures of animals, birds and hunting scenes. The pictures were like a series of clumsy strokes made with a pointed stone. He probably 'wrote' too on tree barks, bones and flat stones.

Slowly, man began to show a remarkable mastery on rough rock surfaces, animal skins and tree barks. He was indeed very inventive and made use of the natural substances around him.

Many cave drawings have been found as far away as in Spain, the Sahara Desert (in Africa), and also in our own country. Some look like mysterious markings. But most of these drawings show the animals the man hunted. Herds of animals like the horse, the reindeer and the bison seem indeed to thunder across dark cave walls. They were, after all, an important part of man's life, for he depended on them for food and clothing.

Man may have drawn animals to celebrate a good hunt or to show his hunting skills. He may have painted them to pass on his knowledge of animals and how to trap and kill them, for the future generations that he would not live forever. He may have wanted his thoughts and knowledge to live longer than himself, through his drawings.

On the other hand, they may have been used to keep a record of the things and events- just like we keep a diary or an album. The walls of his caves were his pages, for he had no other writing material as yet.

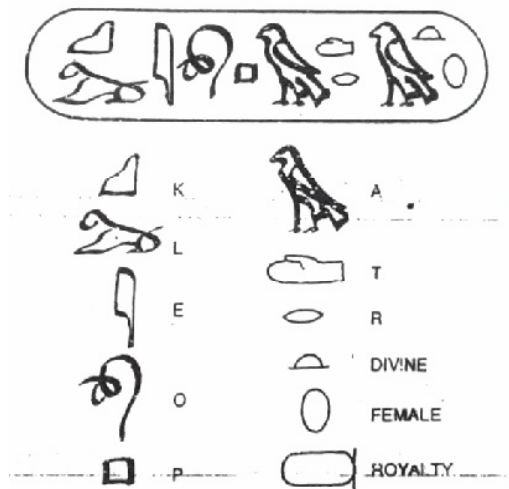


Fig.2. Egyptian Hieroglyphics. Translated It Says Cleopatra

These early drawings were the beginnings of writing, even though they did not follow any actual sequence. The picture writing was used all over the world, by North American Indians, Egyptians, and Chinese. Communities

spoke their own languages, but everybody could understand a picture. For instance, if somebody drew the sun or a tree, it was obvious what he meant by that. Pictures expressed ideas directly.²

Written words are ideas made visible. They serve as vehicles of thoughts and concepts. The discovery of the written word, as we all know, was a long process of evolution. The earliest record of writing is engraved signs; signs which conveyed the meaning only to the initiated few. Gradually signs, in the nature of picture-graphs, like the hieroglyphic symbols of ancient Egypt, came into use. The abstract shapes of letters, as we know them today, emerged only after centuries of cruder, albeit lively attempts at communication. ³

A system containing several hundred signs and small pictures was developed by the ancient Egyptians. These signs (pictures) stood for full words or for sounds. When these signs were combined, a distinct form of communication was possible. By studying the example of Egyptian hieroglyphics (pictures script) shown in Fig. 8 -4, it can be seen that this form of written communication is rather precise and permanent.

In Fig. 2. the name Cleopatra (Kleopatra) was phonetically spelled out, and idea pictures were used for the concept words of divine add queen. To spell out these two words the Egyptians would have had to use a true alphabet, but they never reached this stage of development.



Fig.3. The Development Of The Present-Day Letter A.	Fig.4. The Development Of The Present-Day Letter B.	Fig.5. The Development Of The Present-Day Letter C.
---	---	---

Most scholars give the Phoenicians credit for taking the last step toward a writing system without pictures or general symbols. It is not entirely clear

how or from whom the Phoenicians obtained their ideas for each alphabetical character. They leaned heavily on the beginnings of alphabets that were being developed by the other peoples around them, and gradually evolved a twenty-two-character alphabet which greatly assisted them in their energetic trade and ravel civilization. In approximately 1000 B.C. their alphabet was in full use.

After the Phoenicians, the Greeks were one of the first people to make significant cultural contributions and to use the alphabet. The Greeks used nineteen characters, all representing consonants. They wrote entirely in consonants and it was the decision of the reader if and where a vowel sound was needed. This great cultural civilization perfected its alphabetical system in approximately 600 B.C.

The Romans also needed a sophisticated system of writing. This civilization adapted to its needs those elements developed by other, and thus borrowed as much of the Grecian alphabet as desired. The Roman alphabet of twenty-three characters was perfected around 114 A.D.

The study and comparison of each alphabetical character is an interesting experience. The first three letters of the alphabet are shown in Figs. 3, 4, and 5. The letter A (Fig. 3) originally represented the head of an ox. Food was the most important thing to the Phoenicians, and the use of the ox head as an outline for their letter Aleph is not surprising. The Greeks changed the symbol and called Alpha. The Romans redesigned the letter, giving it the appearance and sound to which we are accustomed, and called it A.

The second most important thing to the Phoenicians was their home or shelter. Their symbol for the letter B represented the shape of a shelter (Fig. 4). This letter was termed Beth. The Greeks called it Beta; the Romans borrowed the character, gave it round and graceful strokes, and called it B.

The third letter originally represented the camel, an important means of travel for the Phoenicians. The symbol represented the head and neck of a camel (Fig. 5), and was named Gimel. The Greek turned the character around and called it Gamma; the Romans borrowed the basic symbol, gave it a graceful curve, and called it C.

Each letter of our present-day alphabet of twenty-six characters has

a similar interesting history. It took several hundred years to fully develop each symbol.⁴

A sign is anything that stands for something else. A sign represents something - an idea, an experience, a feeling, an object, etc. words as ordinarily used are signs in this sense.

A symbol has complex meaning; it has not only "literal" meaning, but also additional meanings beyond the literal. Sometimes the literal meaning of symbol is absurd, so that the symbolic meaning over-rides and cancels out the literal meaning. A symbol may have more than one meaning.⁵



Fig.6. Everyday Signs



Fig.7. United Nations Flag – A Map Of The World Surrounded By Two Olive Branches

Picture signs are used to communicate simple ideas quickly and easily. They can give messages from a short distance away, and even people who cannot read are able to understand them. Signs often give instructions, as such "stop", or tell people where things are such as "fire exit". Symbols represent something more complicated. The olive branch for example, is a symbol of peace.⁶



Fig.8.

Colour can have symbolic meaning. Many (like Kieslowski) definitely associate red with love and passion. Blue is often seen as respectful, full of longing, melancholy or 'blues-like', while yellow symbolizes joy. Black stands for sorrow; white for purity or innocence. Light colours with femininity and dark ones with masculinity.⁷

Words and images seem completely different, despite the fact that they both have the same origin, the sign. The sign is the prerequisite for all communication, all human exchanges of thoughts and ideas.

We need the sign as a means of expression in order to be able to convey and share our knowledge, ideas, insights and warnings. We also need signs in order to document these, and thus avoid keeping everything in our heads, and we need them to make logical and abstract systems out of theories. Signs enable humans to reflect, alone and together, and to view an experience from the outside.

So what is a sign? It is one letter or more, but it can also be a picture. When we build systems using signs, the opportunities are a country or a continent, is agree on what the signs stand for, otherwise communication is possible.

All communication (other than sounds and body language) is based on these signs, which, according to the semiotic triangle, are based on the referent (the reality - a fire, for example) and on an interpreter, a person who sees and interprets the fire and its characteristics in words and pictures. The sign itself then consists of an expression (which shows something) and content (which means something) and it can be broken down into the following three components:

Icon

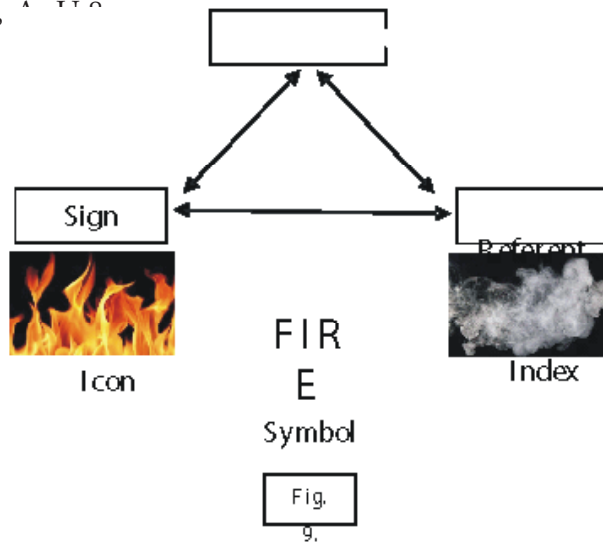
Index

Symbol

Icon - one component - the icon - stands for similarity, referring to a sign that depicts an object, such as a fire, a bird, a woman or a man.

Index - this stands for proximity, a part - whole relationship or indication of another characteristic of the object, such as smoke. The smoke is indirectly present in the fire (no smoke without fire), and a bird's nest gives away the existence of a bird. A lipstick leads thoughts towards a woman, a tie towards a man.

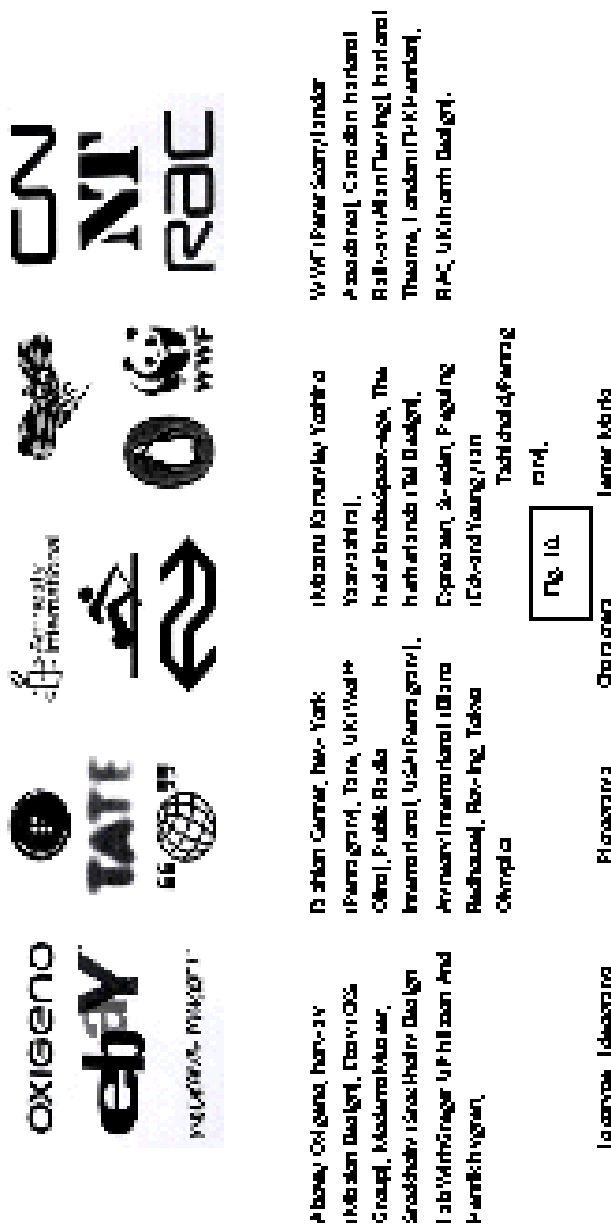
Symbol - an arbitrary agreement is a symbol, for example when letters, alone or in combination, by convention have come to mean something, for instance the letters F, I, R, E or B, I, R, D. Or in French L, E, F, E, U or L', O, I S, E, ^ ^ ^ ^



Since the time when man lived in the forest, there has been a common weakness in every individual to create his own identity. He found some sign or the other to establish his, his family's or his community's identity. This was made familiar through a sign on a pole so that other people may easily establish the identity of a particular person or community from afar. He invented various types of Dhvaja (flags) for this purpose. Dhvajas with a piece of cloth or without cloth are mentioned in our old texts. Even today, on the banks of Ganga and Yamuna, and at various other places of pilgrimage, in remote villages and on hilltops, in the thick forest one can find a particular mark on the pole made of wood, bamboo or metal carrying a symbol or sign.⁹

Many companies choose to supplement the logotype with a symbol, often a simplified image. This is sometimes called a device mark. Looking

far back into history we can trace similarities with mark or sign carved into the wooden handle of a stone axe. The mark became the brand of the early man, and everyone could see that the axe was his and no one else's.



Above/ Oxigeno, Norway (Mission Design); Ebay (CKS Group);

Moderna Museet, Stockholm (Stockholm Design Lab With Greger Ulf Nilsson And Henrik Nygren); Fashion Center, New York (Pentagram); Tate, UK (Wolff Olins); Public Radio International, USA (Pentagram); Amnesty International (Diana Redhouse); Rowing, Tokyo Olympics (Masaru Katsumie/ Yoshiro Yasmashita); Nederlandse Spoorwegen, The Netherlands (Tel Design); Expressen, Sweden; Peguing (Edward Young/ Jan Tschichold/ Pentagram); W W F (Peter Scott/Landor Associates); Canadian National Railway (Allan Fleming); National Theatre, London (FHK Henrion); RAC, UK (North Design).

A really well-known and familiar symbol can be used separately from the logotype, on corporate clothing, in a pattern or in the context of sponsorship, for example. A symbol also bridges such barriers as language and culture and thus it can be used worldwide.

Symbols can be divided into the following categories:

Ideograms

Pictograms

Characters

Letter marks

Ideograms

The actual idea behind a company's operations is shown by an ideogram. The umbrella of an insurance company refers to the protection and security the company offers.

Pictograms

These are greatly simplified and stylized images. They are common in a corporate context, but are important elements in the design programme for the Olympic Games, for example.

Characters

A company's operations will often be embodied by a character. A wasp is a cheeky symbol for a newspaper that prides itself on its investigative and revealing journalism.

Letter marks

Acting in almost the same way as a logotype, letter marks tend to consist of initials or abbreviations only.

In brief a symbol must be: Simple and graphically clear, distinctive and

to be used in all contexts, irrespective of material and background. Clear whether large or small in size, and in colour as well as black and white.¹⁰

Computers have meant a great improvement in communication skills for those with special needs, and the use of symbols have a key function. In the article, 'The Contribution of IT to working with symbols'. Detheridge (1993) explains. 'Computer technology can provide the tools that will enable students to write using symbols. It will enable them to overcome any motor difficulties, and to be creative. The technology is also designed to support progressive development, it allows transition from symbol writing to using words and acquiring associated skills'.¹¹

For all of us, symbols provide shortcuts to meaning. When we drive along a motorway, the picture of a jockey on a horse points the way to the local racecourse, and aeroplane guides us to nearest airport. The road signs that we meet along the way give us information about the restrictions in force on the road or warn us of hazards ahead. We click on a symbol or icon on the computer to execute a command. We select a washing cycle at the touch of a button. Most of the time we absorb symbols subconsciously. Only when we encounter a new piece of technology or take a driving test do we consider the link between the symbol and what it stands for.

Symbols have long been used in the world of special needs as shortcuts to meaning. In the early 1970s research had established the value of using sign language with deaf mentally handicapped adults. Signs that represented the actions and meanings of words were found to encourage language acquisition among people hitherto considered withdrawn and uncommunicative. By the mid-1980s, systems had been extended to include a graphic vocabulary of symbols: pictorial representations of words and concepts that could reinforce the signing vocabulary in use. One of the advantages of symbols over signing was concrete nature of the written form, allowing users extra time to comprehend the message and respond. Bliss, Makaton, Rebus and Sigsymbols are all examples of systems that aim to supplement our traditional ways of communicating through speech and writing. At their simplest, these symbol systems consist of a library of pictorial representations providing information directly to the viewer. However, whereas concrete objects can be represented directly, relational symbols such as 'under', 'yesterday', and 'this',

require a degree of abstraction. The grammatical structures that are needed to communicate complex sentences call for a graphic parallel to syntax and word order. Some system, such as Bliss, have developed a more abstract style in order to provide a more comprehensive lexicon for users.¹²

In education, symbol systems are used with three main categories of learners who find difficulty in communicating in speech and writing. The first category consists of a group of youngsters who are unable to communicate through speech. For them, a communication aid provides an alternative voice. By selecting words or symbols on a touch sensitive panel, they can direct the aid to 'speak out' their chosen message. Alternatively, by using a computer with a speech synthesiser attached, they can create and send messages to their listeners. Their needs as symbol users are very specific.

The second category includes learners with severe learning difficulties who use symbols to interpret the printed message. The majority of these users will have a limited grasp of words and meanings, so symbols become an essential factor in their development of literacy. The third category are learners who had difficulty interpreting words on the pages. They may be second language learners or pupils with dyslexia who use symbols as an additional means of cracking the code of the printed word.¹³



Fig.11. Figure-Image Drawing By A Three-And-A-Half-Year-

A drawn symbol can stand for something out there in the environment. The child makes a circular mark, looks at it, adds two marks for eye, points to the drawing, and says, "Mommy," or "Daddy", or "That's me," or "My dog", or whatever. Thus, we all made the uniquely human leap of insight that

is the foundation for art, from the prehistoric cave paintings all the way up through the centuries to the art of Leonardo, Rembrandt, and Picasso. 14

All this seems rather easy - dialling a number, typing a message or just switching on the TV. But communicating was not always so simple. Thousands of years ago, humans did not even know how to speak. There were no words and no language. We communicate like other animals, using signs and gestures slowly; humans advanced from sign language and began using symbols and drawings to convey information. Cave paintings have been found at different sites. Drums and smoke signals are used even today! When a new pope gets elected in Rome his selection is announced by a smoke signal.15

References: -

1. Rosemary Sassoon, Albertine Gaur, Signs, Symbols And Icons - Pre-History To The Computer Age, Copyright © 1997, Published By Intellect Books, Page No. 83
2. Nita Berry, The Story Of Writing, Edited By Geeta Menon, © 1998 Published By Children's Book Trust, Page No. 16 To 18.
3. K. C. Aryan, EncyclopediaOfIndiand Art References, Symbols And Evolution Of Devanagari Script, © 1989 - Art, Indic RekhaPrakashan, Page No.13
4. Dr. Ervin A. Dennis, Dr John D. Jenkins, Comprehensive Graphics Arts, Copyright © 1974, Published By The Boobs - Merrill Company, Inc., Page No. 20 To 21
5. <http://web.mst.edu/~gdoty/classes/concept-practices/symbolism.html>
6. Colin Uttley, Communications - Disney Children's Encyclopedia, © 1999 Disney Published By Euro Books, Page No. 12 To 13
7. Bo Bergström, Essentials Of Visual Communications, Copyright © 2008 By Laurence King Publishing Ltd., Page No. 201
8. Same As Above, Page No. 221
9. K. C. Aryan, EncyclopediaOfIndiand Art References, Symbols And Evolution Of Devanagari Script, © 1989 - Art, Indic RekhaPrakashan, Page No.119
10. Bo Bergström, Essentials Of Visual Communications, Copyright © 2008 By Laurence King Publishing Ltd., Page No. 212 To 213
11. Rosemary Sassoon, Albertine Gaur, Signs, Symbols And Icons - Pre-History To The Computer Age, Copyright © 1997, Published By Intellect Books, Page No. 79 To 80
12. Same As Above Page No. 83
13. Same As Above Page No. 84 To 85
14. Betty Edwards, The New Drawing On The Right Side Of The Brain - A Course In Enhancing Creativity And Artistic Confidence, Copyright ©Betty Edwards

Shashi Goel
 Research Scholar
 Department of Political Science
 University of Rajasthan, Jaipur

ATISHAY KALIT
Vol. 5, Pt. A
Sr. 9, 2016
ISSN : 2277-419X

ELECTION AND ELECTORAL REFORMS FOR BETTER DEMOCRATIC INDIA

India's extensive experience with democratic elections, as D.L. Sheth has asserted, 'cannot be ignored while formulating any perspective of the Indian political system.'¹ Unlike the situation in many –perhaps most-of the new states of the so-called developing world, election in India have been truly meaningful ,and not peripheral, to the system. They have been truly meaningful, and not mainly ritualistic, acts.They have undoubtedly been shaped and conditioned by the nature of the political and social system, and by general environmental factors; but they have also served as links between the polity and the society, between the 'traditional' and the more 'modern' aspects of Indian life and behavior, between the individual citizen and the government, and they have had a considerable effect on the political behavior of the Indian people, on the nature of the emerging mass politics, and indeed upon the nature and evolution of the entire political system. In order words, they may be variously considered as dependent, intervening, and independent variables.

Much more attention has been given to election as dependent variables in the Indian political system, but their important function as intervening and independent variables should not be overlooked. This shift in balance or approach is particularly important to note in analyzing the place of election to Indian political system, and the contributions of elections to Indian political development. Imtiaz Ahmed has referred to 'the immense transformational impact of our electoral system.'²other careful students have referred to elections in India as 'creative processes' and as 'integrative processes.'³

Election in India: A Developmental Approach

Since the Indian electoral experience has been so vast, and since so

many case studies and other micro-studies of particular elections in particular constituencies or districts or states have been made, it seems particularly important to bear in mind the larger aspects and significance of the electoral process in India. This perspective can be best achieved by stressing systemic and developmental analysis.

Elections in India provide the occasion for the widest degree of popular participation; they constitute the most important single arena for genuine competition between political groups; they are the principle agency through which recruitment to a significant part of the political elite is affected; and the skills and resources which they especially call forth figure prominently in political life in general.... Election in India can now be seen not merely as useful indicators but actually as the events through which the party system and hence, in a measure, the political system achieve their evolution.⁴

Election in India, whether for local, State, or national office, are massive spectacles, or 'tamashas'. They serve important social and entertainment functions, and they also mobilize millions of people into the political process. They are in some ways the most exciting and universal national acts in which the masses engage. They bring politics within the sphere of the citizen, and the citizen into the political arena, if only in a mildly participatory way. National elections are the apex of the election pyramid in a country which has experienced perhaps too frequent election at various levels. They serve educative functions for the voters and integrative function for the system. Periodically they throw the spotlight on parties and candidates and political leaders. Miraculously, they are, as Morris-Jones has observed, 'one of the things Indians...do well.'⁵

Elections are generally thought of as integral features of most modern political systems, and they are usually linked with political parties and non-strictive organization and processes. In India they are both 'modern' and 'traditional' sectors of Indian life, and they are profoundly influenced by, as well as exert a profound influence upon, the nature of the Indian political culture. That culture cannot accurately be described as either 'traditional' or 'modern', and the term 'transitional' is too vague to have much utility. It is, as V.M.Sirsikar has described it, a 'mixed political culture'. 'It would

be necessary', wrote Sirsikar in one of the first case studies of an Indian election using the panel interview approach, 'to understand the act of voting in India as operating in a mixed political culture of a traditional society, experiencing modernizing influence of the western impact'⁶—and also, he might have added, experiencing countervailing influences of the more 'traditional' sectors of Indian society.

The electoral process is indeed a pervasive one. It extends to the highest levels of political life, and often is the process through which the character of the political leadership and institutions is determined; but it also permeates the social order, at almost every level, and at least to some extent involves people who are generally outside of the reach of politics in political life at basic levels. Hence elections have proved to be powerful instruments of mass education and of political socialization. The Indian experience has proved that they can function in essentially 'traditional' social systems, with an overwhelmingly illiterate, population, and still serve the modern political goals of integration, nation- building, and development. In the process the social order becomes more closely identified with the political system and the political system develops a broader social base.

Elections and Political Parties

Thus the roles of parties, and the interactions of parties and elections, are central to any study of elections. As Duverger has observed, 'the electoral system affects the political life of a country mainly through the parties;'⁷ and in most countries, including all democratic countries, parties are deeply involved in the electoral process, and in fact depend upon it to promote their goals and objectives. It is of course theoretically conceivable that elections can be held without parties, and that parties can function without elections. It is also true that in some countries parties are mere political facades, and elections largely ritualistic acts. But no modern democratic country has been able to function without both election and parties, as meaningful institutions in the political system. India confirms rather than denies or qualifies the validity of this proposition, even though both parties and elections are frequently criticized in a land where a strong tradition of 'consensus' prevails and where there is some continuing sentiment in favor of a system of 'party less democracy' within a framework of 'democratic decenterlization.'⁸

In India, as in other democratic politics, political parties must seek support from the people through periodic elections, and their influence and effectiveness are determined in large part by the verdict of the polls. Elections thus are an index of the relative political standing of various parties, and they both reflect and shape the trend of events and forces in the underlying social and political order. Among other things, they throw a great deal of light on the nature of the party system, and of the changes that are taking place in that system.

Politicization and the Social Environment

Elections and political parties are major agencies for the increasing politicization of Indian life and society, one of the most conspicuous phenomena in post-independence India. This phenomenon is central to Indian political development, and it takes many forms. It is evidenced by the growing role of politics and government in India generally, by the increasing involvement in political life of individuals and groups which in the past have been quite inactive in the Indian life, and by the obsession with politics which seems to characterize the news media and other avenues and agencies of public expression.

This phenomenon of politicization in India has some baffling and anomalous aspects. India is, as Rajni Kothari and many others have pointed out and as past history have demonstrated, essentially an apolitical society, with the masses of the people almost isolated from political life, except as the victims or the beneficiaries of the political rulers and the bureaucracy. Yet it is increasingly becoming a highly politicized society. These countervailing trends account for much of the apparent cross-pressures in Indian life.

Politicization seems to be an inescapable concomitant of modern or modernizing programs and policies. Indeed, Rajni Kothari calls it the 'driving force' of 'modernization'⁹ possibly, therefore, India is becoming more highly politicized because it is becoming more modern, or at least more modernized.

Trends in Indian Political System: Electoral Reforms

In considering the role of elections in India's political development, two important general propositions or conclusions should be borne in mind.

The first is that India's extensive experience with democratic elections has had a cumulative impact. Each general election has had distinctive features and has posed distinctive political question, but each has had a great effect, both tangible and intangible, on subsequent elections, on the total electoral process, and on the evolution of the Indian political system.¹⁰The second is that the elections, and the total electoral experience, have not only been profoundly affected by the basic nature of the Indian political system and the overall political process, and have thus been significant dependent variables, but they have also affected the nature of the system and the process, and have thus also affected the nature of the system and the process, and have thus also been important independent and intervening variables. This latter aspect of the role of elections in India has not yet been adequately explored, or even recognized, but it is an aspect that is emerging increasingly as a basic factor in the evolving political system.

Some Electoral Reforms are given by Election commission of India, 2004(T.S. KRISHNA MURTHY), and those are:

1. AFFIDAVITS TO BE FILED BY CANDIDATES ON CRIMINAL ANTECEDENTS, ASSETS, ETC.

(a) The Commission, therefore, recommends that Form 26 may be amended so as to include init all the items mentioned in the Format of affidavit prescribed by the Commission's order dated 27.3.2003. While doing this, it is also suggested that a further column maybe added in the format about the annual declared income of the candidate for taxpurpose and his profession.

(b) The Commission is of the view that to protect the right to information of the electors as per the spirit of the judgment dated 13.3.2003 of the Supreme Court referred to above, the punishment here should be made more stringent by providing for imprisonment of a minimum term of two years and doing away with the alternative clause for fine. Conviction for offences under Section 125 A should further be made part of Section 8(1)(i) of the Representation of People Act, 1951, dealing with disqualification or conviction for certain offences. Such a provision will reduce instances of candidates willfully concealing information or furnishing wrong information.

2. NEED TO INCREASE THE SECURITY DEPOSIT OF

CANDIDATES

Prior to the recent elections, the Commission had made a proposal for increasing the security deposit to Rs. 20,000/- in the case of election to the House of the People and Rs. 10,000/- for Legislative Assembly election. For candidates belonging to Scheduled Castes and Scheduled Tribes, the deposit amount would be half the respective amounts. However, there has been no response from the government to this proposal.

The Commission is also of the view that aforesaid Section 34 should be suitably amended so as to empower the Commission to prescribe the security deposit before every general election to the House of the People. Resorting to amendment of the Act will not be feasible before every general election.

3. CRIMINALISATION OF POLITICS

The Commission is of the view that keeping a person, who is accused of serious criminal charges and where the Court is prima facie satisfied about his involvement in the crime and consequently framed charges, out of electoral arena would be a reasonable restriction in greater public interests. There cannot be any grievance on this. However, as a precaution against motivated cases by the ruling party, it may be provided that only those cases which were filed prior to six months before an election alone would lead to disqualification as proposed. It is also suggested that persons found guilty by a Commission of Enquiry should also stand disqualified from contesting elections. [The provisions in the Jammu & Kashmir Representation of the People Act are relevant in this regard]

The Commission endorses that the law should be amended as proposed above.

4. RESTRICTION ON THE NUMBER OF SEATS FROM WHICH ONE MAY CONTEST

The Commission is of the view that the law should be amended to provide that a person cannot contest from more than one constituency at a time. The Commission will also add that in case the legislature is of the view that the provision facilitating contesting from two constituencies as existing at present is to be retained, then there should be an express provision in the law requiring a person who contests and wins election from

two seats, resulting in a bye-election from one of the two constituencies, to deposit in the government account an appropriate amount of money being the expenditure for holding the bye-election. The amount could be Rs.5, 00,000/- for State Assembly and Council election and Rs.10, 00,000/- for election to the House of the people.

5. EXIT POLLS AND OPINION POLLS

The Commission reiterates its view that there should be some restriction on publishing the results of Opinion Polls and Exit Polls. Such a restriction would only be in the wider interests of free and fair elections. Regarding the argument about the right to freedom of information sought to be linked to the dissemination of results of Opinion and Exit Polls, it has to be noted that the past experience shows that in many cases, the result of elections have been vastly different from the results predicted on the basis of the exit polls. Thus, the information claimed to be disseminated turned out to be disinformation in many cases.

The Commission recommends that there should be a restriction on publishing the results of such poll surveys for a specified period during the election process. In many of the western democracies, there exist such restrictions for various periods.

6. PROHIBITION OF SURROGATE ADVERTISEMENTS IN PRINT MEDIA

The Commission is of the view that there should be clear provision to deal with cases of surrogate advertisements in print media. For this purpose, Section 127A of the Representation of the People Act, 1951 may be suitably amended, adding a new sub-Section (2A) to the effect that in the case of any advertisements / election matter for or against any political party or candidate in print media, during the election period, the name and address of the publisher should be given along with the matter / advertisement.

Sub-section (4) should also be suitably amended to include in its ambit the new proposed sub-section.

7. NEGATIVE / NEUTRAL VOTING

The Commission recommends that the law should be amended to specifically provide for negative / neutral voting. For this purpose, Rules 22

and 49B of the Conduct of Election Rules, 1961 may be suitably amended adding a proviso that in the ballot paper and the particulars on the ballot unit, in the column relating to names of candidates, after the entry relating to the last candidate, there shall be a column .None of the above., to enable a voter to reject all the candidates, if he chooses so. Such a proposal was earlier made by the Commission in 2001 (vide letter dated 10.12.2001).

(A petition by the People's Union for Civil Liberties seeking such a provision filed at the time of the recent general elections is pending before the Hon.ble Supreme Court)

8. APPOINTMENT OF APPELLATE AUTHORITY IN DISTRICTS AGAINST ORDERS OF ELECTORAL REGISTRATION OFFICERS

the Commission had recommended in 1998 that Section 24 of the Representation of the People Act, 1950 should be amended to provide for an appeal against the order of the Electoral Registration Officer to the District Election Officer in the district itself.

9. COMPULSORY MAINTENANCE OF ACCOUNTS BY POLITICAL PARTIES AND AUDIT THEREOF BY AGENCIES SPECIFIED BY THE ELECTION COMMISSION

Therefore, the political parties must be required to publish their accounts (at least abridged version) annually for information and scrutiny of the general public and all concerned, for which purpose the maintenance of such accounts and their auditing to ensure their accuracy is a pre-requisite. The Commission reiterates these proposals with the modification that the auditing may be done by any firm of auditors approved by the Comptroller and Auditor General. The audited accounts should be available for information of the public.

10. GOVERNMENT SPONSORED ADVERTISEMENTS

(a) The Commission proposes that where any general election is due on the expiration of the term of the House, advertisements of achievements of the governments, either Central or State, in any manner, should be prohibited for a period of six months prior to the date of expiry of the term of the House and in case of premature dissolution, the date of dissolution of the House. Here, advertisements / dissemination of information on poverty alleviation and health related schemes could be exempted from the purview of such a ban.

(b) There is also the practice of putting up banners and hoardings in

public places, depicting achievements of governments. This should be banned, if possible. Otherwise, there should be specific provisions that name or symbol of any political party or photograph of any of the leaders of the party should not appear on such hoardings/banners.

11. POLITICAL ADVERTISEMENTS ON TELEVISION AND CABLE NETWORK

The Government may consider amending the relevant provisions of the Cable Television Network (Regulation) Rules, 1994 to provide for suitable advertisement code and monitoring mechanism.

12. COMPOSITION OF ELECTION COMMISSION AND CONSTITUTIONAL PROTECTION OF ALL MEMBERS OF THE COMMISSION AND INDEPENDENT SECRETARIAT FOR THE COMMISSION

In order to ensure the independence of the Election Commission and to keep it insulated from external pulls and pressures, Clause (5) of Article 324 of the Constitution, inter alia, provides that the Chief Election Commissioner shall not be removed from his office except in like manner and on like grounds as a Judge of the Supreme Court. However, that Clause (5) of Article 324 does not provide similar protection to the Election Commissioners and it merely says that they cannot be removed from office except on the recommendation of the Chief Election Commissioner. The provision, in the opinion of the Election Commission, is inadequate and requires an amendment to provide the very same protection and safeguard in the matter of removability of Election Commissioners from office as is available to the Chief Election Commissioner. Independent Secretariat is vital to the functioning of the Election Commission as an independent constitutional authority. In fact, the provision of independent Secretariat to the Election Commission has already been accepted in principle by the Goswami Committee on Electoral Reforms and the Government had, in the Constitution (Seventieth Amendment) Bill, 1990, made a provision also to that effect. That Bill was, however, withdrawn in 1993 as the Government proposed to bring in a more comprehensive Bill.

13. EXPENSES OF ELECTION COMMISSION TO BE TREATED AS .CHARGED.

To secure its independent functioning the Commission is of the opinion that the Bill, which lapsed with the dissolution of the 10th Lok Sabha in 1996, needs reconsideration.

14. BAN ON TRANSFERS OF ELECTION OFFICERS ON THE EVE OF ELECTIONS

The Commission had recommended in 1998 that Section 13 CC of the Representation of the People Act, 1950, and Section 28A of the Representation of the People Act, 1951 should be amended to provide that no transfer shall be made, without the concurrence of the Commission, of any officer referred to therein, as soon as a general election/bye-election becomes due in any Parliamentary or Assembly Constituencies. Such transfers, often made on grounds other than administrative exigencies, disrupt the arrangements then underway for conducting smooth and peaceful elections. The Commission reiterates these recommendations. It is suggested that in the case of a general election either to the House of the People or to State Legislative Assembly, the ban may come into operation for the period of six months prior to the date of expiry of the term of the House concerned and in case of premature dissolution, the date of dissolution of the House.

15. ALL OFFICIALS APPOINTED IN CONNECTION WITH CONDUCT OF ELECTIONS TO BE INCLUDED IN CLAUSE (7) OF SECTION 123

The Commission had then recommended that clause (7) of Section 123 of the Representation of the People Act, 1951, should be amended by including all officials appointed in connection with the conduct of elections in the category of officials mentioned in the said clause. The Commission reiterates these proposals so that similar situations do not pose any technical difficulty in future elections.

References:

1. D.L. Sheth, 'Political Development of Indian Electorate,' *Economic and Political Weekly*, V (Annual Number, January 1970), 138.
2. Imtiaz Ahmed, 'Elections and political process: studies in the Fifth Parliamentary Elections' Jawaharlal Nehru University, New Delhi
3. Gopal Krishna, 'One party dominance- Development and trends,' *Perspectives*, supplement to *The Indian Journal of Public Administration*, 12th (January-March 1996)
4. W.H. Morris-Jones and B. Das Gupta, 'India's Political Areas: Interim Report on an